

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180101

UNIVERSAL
LIBRARY

QUP- 43 -4-4-69-5,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H83/R14S:** Accession No. **G.H. 1702**

Author **राहुल सांकृत्यायन**

Title **सिंह सेनापति 1. 1942.**

This book should be returned on or before the date
last marked below

सिंह सेनापति

गहुल सांकृत्यायन

ग्रन्थमाला-कार्यालय, बाँकीपुर, पटना

दो शब्द

‘जीने के लिये’ के बाद यह मेरा दूसरा उपन्यास है। वह बीसवीं सदी ईसवी का है, और यह ईसा पूर्व ५०० का। मैं मानव-समाज की उषा से लेकर आज तक के विकास को बीस कहानियों (वोल्गा से गंगा) में लिखना चाहता था। उन कहानियों में एक इस समय (बुद्ध काल) की भी थी। जब लिखने का समय आया, तो मालूम हुआ कि सारी बातों को कहानी में नहीं लाया जा सकता ; इसलिये ‘सिंह सेनापति’ उपन्यास के रूप में आपके सामने उपस्थित हो रहा है।

‘सिंह सेनापति’ के समकालीन समाज को चित्रित करने में मैंने ऐतिहासिक कर्तव्य और औचित्य का पूरा ध्यान रखा है। साहित्य पाली, संस्कृत, तिब्बतीय में अधिकता से और जैन साहित्य में भी कुछ उस काल के गणों (प्रजातंत्रों) की सामग्री मिलती है। मैंने उसे इस्तेमाल करने की कोशिश की है। खान पान, हास-विलास में यहाँ कितनी ही बातें आज बहुत भिन्न मिलेंगी, किन्तु वह भिन्नता पुराने साहित्य में लिखी मौजूद है।

सेंट्रल जेल, हजारीबाग
२७-५-४२ }

राहुल सांकृत्यायन

सिंह सेनापति

विषय-प्रवेश

वैशाली के प्रजातंत्र के बारे में बहुत कम लिखित सामग्री प्राप्त है। उसे पढ़ते वक्त मुझे बार-बार चाह होती थी कि इस विषय में कुछ और भी बातें मालूम होतीं। मेरे दोस्तों में से कुछ का विश्वास था कि मृतकों की आत्मा शरीर से अलग होकर प्रेत-लोक में हमारे आस-पास भँडराया करती हैं, और उनसे बातचीत करनेवाले महापुरुष भी मौजूद हैं। मेरा विश्वास जब आत्मा ही पर नहीं है, तो प्रेतात्मा तथा उसके लोक पर क्या होगा ? तो भी मैंने हरमूराम ब्रह्म को इष्ट रखनेवाले बाबू रामदास गौड़ की परीक्षा का अच्छा मौका समझ उनसे वैशाली गण (प्रजातंत्र) के कुछ व्यक्तियों का नाम बतला कर कहा—यदि आप इनमें से किसी को बुलाकर वैशालीगण के इतिहास के बारे में जानकारी प्राप्त करा सकें, तो आपकी प्रेत-विद्या-श्रोत्रिणी—की सबसे जबरदस्त प्रचारक मेरी कलम होगी। लेकिन खयाल रखियेगा, प्रेतात्मा झूठ-साँच बकेगी, तो उसकी कसौटी मेरे पास है। गौड़जी ने इसपर तरह-तरह की बातें बनानी शुरू की, जिसका अर्थ था, उनकी श्रोत्रिणी के लिये “आँख के अँधे, गाँठ के पूरे” दूसरे ही लोग होते हैं। खैर, मैं तो सिर्फ मजाक कर रहा था, या कुछ दोस्तों को दिखला रहा था कि उनके प्रेतशास्त्री कितने पानी में हैं।

बहुत वर्षों बाद, जब गौड़जी जीवन-लीला समाप्त कर चुके थे, एकाएक एक अनहोनी हुई। वचन से मुझे जबरदस्ती ठोक-पीटकर सुकुमार बनाने की कोशिश की गई थी—यद्यपि मेरे गरीब किसान माता-पिता की हैसियत ऐसी न थी। मुझे भी उस वक्त क्या खयाल था कि

मुकुमारता महान् पाप है—सोने के शरीर का मिट्टी बनाना हो तो इस पाप को मोल लो। जब यह ज्ञान हुआ, तो अब करीब-करीब चिड़ियाँ खेत चुग चुकी थीं। तो भी अब अच्छी उमर में हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना मैं पसंद नहीं करता। मैं रोज नियम से और श्रमों के अतिरिक्त जमीन खोदता हूँ। मैं इस व्यायाम को सबसे ज्यादा पसंद करता हूँ; क्योंकि यह व्यायाम के अतिरिक्त धरतीमाता की सेवा भी है।

उस दिन छपरा जिले में अपने एक दोस्त के पास ठहरा था। सबेरे उनसे कुदाली मँगवाई और एक परती जमीन—जिसे कि मेरे दोस्त खेत बनाने जा रहे थे—में कुदाली चलानी शुरू की। जमीन कड़ी थी, इसलिये मालूम होता था, खुदाई नहीं हो रही है; बल्कि सखे बबूल पर टाँगा मारकर चैली छुड़ाई जा रही है। मेरे दोस्त ने भी देखा-देखी “योग साधना” चाहा, जब खुद से नहीं हो सका, तो कितने ही वहाँ से मुझे काम से हटा घर ले चलने की कोशिश करने लगे। लेकिन, मुझे तो नित्य-नियम पूरा करना था, और साथ ही मेरे हाथ अब इतने कर्कश हो गये हैं कि उनमें छाले नहीं पड़ सकते। दोस्त निराश होकर एक ओर बैठ चुके थे। इसी वक्त मैंने एक गहरी कुदाल के बाद जमीन को कुछ नरम पा. दो कुदाल नीचे की ओर मारी, और मेरी कुदाल ऊपरी तल से डेढ़ हाथ नीचे पहुँच गई। परती के ऊपरी भाग पर आबादी का कोई चिह्न नहीं था; किन्तु यहाँ मुझे मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े दिखाई दिये। मुझे पुरातत्त्व में भी कुछ शौक या खबल है। मैंने सोचा, तीन फीट नीचे की यह चीज छै सौ वर्ष नहीं तो चार सौ वर्ष पुरानी तो जरूर है, जिसका अर्थ है मील भर लम्बी-चौड़ी इस परती भूमि में—जहाँ ऊपर आज आबादी का कोई नामो-निशान नहीं है. किसी वक्त बस्ती थी। मेरा कौतूहल बढ़ा, और मैंने कुदाल को सामने की ओर चलाने की जगह नीचे की ओर चलाना शुरू किया। दो फीट और नीचे जाने के बाद आबादी का निशान गायब था। मैंने इस पाँच फीट की गहराई में पहुँचकर

अपने पैरों को हजार नहीं, तो आठ सौ वर्ष पहिले—मुसलमानों के आने के समय—की धरती पर पाया, यद्यपि वह जन-शून्य धरती रही होगी। मेरा कुतूहल शान्त नहीं हुआ था, यद्यपि किसी बाढ़ की लाई नंगी मिट्टी को देखकर उसे शान्त हो जाना चाहिये था। उस दिन मैंने वहीं काम समाप्त कर दिया; किन्तु अपने दोस्त से कह दिया कि कल मुझे फिर वहीं व्यायाम के लिये आना है।

मैं रात को सोच रहा था—यद्यपि पुरानी मही या आज की गंडक अब यहाँ से कई कोस उत्तर हटकर बह रही है; किन्तु यह सारी भूमि उसकी 'चाली' हुई है, और मही की धार किसी वक्त जरूर और दक्खिन से बह रही थी। इस प्रकार यह भूमि जरूर पहले एक दूसरी ही हैसियत रखती होगी। खैर, कुछ फीट और नीचे खोदकर देखना चाहिये, उस बाढ़ की मिट्टी के नीचे क्या फिर कोई आवादी का चिह्न मिलता है ?

दूसरे दिन मैंने अपनी खुदाई को छै फीट व्यास के कूँ की शकल में परिणत कर दिया। जमीन नीचे नरम थी। मैंने थोड़ी-सी जगह में डेढ़ फीट गहरा गड्ढा खोदकर देखा तो नीचे फिर वही बर्तन, ईंट, खपड़ैल के टुकड़ों के अतिरिक्त दो सुन्दर मिट्टी के खिलौने तथा काँच के प्याल के टुकड़े प्राप्त हुए।—यह कहने की जरूरत नहीं कि बस्ती के चिह्नवाली विशेष महत्त्व की जितनी वस्तुएँ दो फीट से नीचे मिलती गयीं, उन्हें हर छै इंच के हिसाब से अलग कर मैं सिर्फ रतार को नोट करता गया। आठ फीट नीचे गुप्त-कालीन (ईसवी चौथी सदी के) स्तर की चीजें कुछ और आकर्षक प्रतीत हुईं और अब व्यायाम ही नहीं, पुरातत्त्व की जिज्ञासा ने भी मुझे उस जमीन से बाँध दिया ! किन्तु, इतनी गहराई में खोदना और मिट्टी निकालकर बाहर पेंकना एक आदमी के बश की बात न थी। मेरे दोस्त को मेरी चिन्ता मालूम हो गयी—साथ ही मेरे वार्त्तालाप और लेखों के कारण उन्हें पुरातत्त्व के साथ कुछ-कुछ सहानुभूति भी है;

इसलिए उन्होंने मेरे कहने से पहले ही कहा—और नीचे जाने के लिये कई हाथों की जरूरत होगी, मिट्टी निकालने के लिये ही नहीं ; बल्कि चद ही हाथ बाद पानी निकल आ सकता है । आदमियों की कमी नहीं है और आपको मजदूरी का संकोच भी नहीं होना चाहिये । आप बतलावे, कितने आदमी चाहिये ?

मैंने कहा—अभी सिर्फ पाँच मजबूत और थोड़े समझदार आदमी छै आने रोज पर; लेकिन इस शर्त पर की मजदूरी मैं दूँगा ।

मेरे दोस्त मेरी कमजोरी और बेबसी को जानते थे; इसलिए उन्होंने शर्त को नामंजूर कर दिया । और, दूसरे दिन अकेला जब वहाँ पहुँचा, तो देखा, वह पाँच मजबूत आदमियों तथा टोकरी-कुदाल के साथ वहाँ मौजूद हैं । मैंने जब अपनी शर्त पर अपने को डटा जाहिर किया, तो उन्होंने कहा—तुम्हारी शर्त की ऐसी तैसी । यह देखो—फीता मेरे पास है । हर छै इंचवाले स्तर की चीजों की ढेरी पर नंबर दे अलग रखवाता जाऊँगा, और खुदाई को तब तक जारी रखूँगा, जब तक आबादी के चिह्न मिलने बंद न हो जायँ । यदि मेरे इस काम में गलती हुई, तो “कानी-मानी दोष, बुढ़िया भरोस” शैतान की कसम सारा पाप-पुण्य तुम्हें होगा ।

अब जरा भी मान करना सख्त बेवकूफ बनना था ।

मैंने दीवार के पास दो छोर पर छै इंच गहरे दो छोटे-से समतल गड्ढे खोद दिये, और मजदूरों को समझाया कि पहले इस तल के ऊपर की कूँ की सारी मिट्टी का साफ कर ऊपर फेंकना होगा ; फिर इसी प्रकार छै छै इंच नीचे की ओर बढ़ना होगा ।

छै-छै इंच नीचे बढ़ने का मतलब था, सौ-सौ वर्ष पीछे के संसार की ओर बढ़ना—गंगा, गंडक की उपत्यका में जमीन के मोटे होने का यही परिमाण है । तो गोया हम अब चौथी सदी ईसवी से तीसरी, दूसरी... की ओर बढ़ रहे थे ।

अब मैं कूर्ण में व्यायाम नहीं कर सकता था ; क्योंकि मुझे भीतर से निकली हरएक टोकरी को देखकर मानव हाथों से निर्मित चीजों को इकट्ठा करना, मिट्टी की जाति को पहचानना तथा इन सबको नोट करने के अतिरिक्त मजदूरों को सावधानी से कुदाल चलाने की हिदायत भी देनी थी । चीजें काफी और उनमें बहुत-सी महत्वपूर्ण हाथ लगी थीं, खासकर ईसवी पूर्व पहली सदी के शक-स्तर पर । इधर गाँववालों में शोहरत हो गयी थी—जिसमें हमारे मजदूरों का ही हाथ ज्यादा था—कि यहाँ किसी पुराने राजा का खजाना गड़ा हुआ है । पंडितजी के पास बीजक है, उसीके लिये खुदवा रहे हैं । मैंने इस अफवाह को और भी खतरनाक समझा ; क्योंकि रात को कुछ मनचले आकर कुदाल चलाने के लिये यदि दाँट पड़ते और ऊट-पटाँग तौर से मिट्टी खोद फेंकते, तो इस लेख-लुत कम्पोज की हुई पुस्तक के टाइपों के तितर-बितर होने की भाँति मेरा काम चौपट हो जाता । मेरे दोस्त ने मेरे तरह ही को देख उसी दिन एक खेमा मँगवा दिया और उसी दिन से वहीं साथ रहने का प्रस्ताव पेश किया । मेरे लिये—अन्धे को दो आँखों के सिवा और क्या चाहिये था ?

अब व्यायाम के लिये खोदी जानेवाली वह परती पुरातत्त्व का ग्वनन-क्षेत्र बन गयी । व्यायाम के लिये मैं घंटे भर रात रहते परती को दूसरी जगह खोद लेता । रात को लालटेन के सामने, दिन की चुनी हुई चीजों को रजिस्टर पर दर्ज करता और मेरे मित्र उनपर रजिस्टर के संकेत—अक्षर तथा अंक—लिखकर मिलसिले से चीड़ के बक्सों में रखते जाते । इस काम के खतम होने के बाद, मैं दो-एक विशेष चीजों के बारे में अपने मित्र को समझाता । मेरे मित्र को “छै इंच नीचे और एक सदी के पहले” पर विश्वास न आया था ; किन्तु अब इधर कितने ही स्तरों से मिट्टी, काँच और दो पत्थर के टुकड़ों के ऊपर अक्षर भी मिले थे । आम्हाजी की ‘पुरालिपि’ को मैंने मँगवा भेजा था । उसके आने पर जब मैंने कुछ अक्षरों के सादृश्य को दिखलाया, तो उन्हें विश्वास ही नहीं हो

गया; बल्कि खुदाई के प्रति उनकी उत्सुकता मुझसे भी ज्यादा हो गयी।

आगे की सदियों में घुसने पर हमें और भी कितनी ही महत्व की चीजें मिलीं; किन्तु वह अलग पोथों के विषय हैं तथा उस सामग्री को देखने पर वाल-सूर्य के सामने तारों की भाँति निःप्रभ हैं, साथ ही मेरे वर्तमान कृत्य के लिये अप्रासंगिक भी हैं।

पंद्रह फीट पर मिट्टी ज्यादा भीगी निकलने लगी। महत्त्वपूर्ण चीजों में कुछ शाल (साखू) की लकड़ी पर कारुकाय मिले। पानी फूट निकलने का मुझे डर होने लगा। मैं खुद नीचे उतरा और अगले छै इंची स्तर के निरीक्षण के लिये कुदाल चलाने लगा। कुछ कड़ी चीज पर कुदाल के लगते ही मैंने उसे कुदाल से कुरेदना शुरू किया। वहाँ ईंटों से बिछा फर्श-सा मालूम हुआ। मैंने कूँ के दूसरे छोर की दीवार को खोदकर देखा, तो वहाँ भी वही ईंटें बिछी थीं। मैंने एक ईंट को उठाने की कोशिश की; किन्तु वह खुस-से टूट गयी। जोड़कर देखा तो वह डेढ़ फुट लंबी, डेढ़ फुट चौड़ी तथा एक इंच मोटी टाइल-सी थी। मैं समझ रहा था, यह मौर्य (ईसा-पूर्व तीसरी-चौथी सदी के) स्तर से नीचे की ईंटें हैं। और, इस वक्त की जो भी ईंटें अब तक मिल चुकी हैं, उनसे ये भिन्न हैं।

उस दिन काम मैंने वहाँ बंद कर दिया, और 'ईंट' के टुकड़ों को लेकर ऊपर आ निहारने लगा। उनपर मिटे हुए कुछ खुदे अक्षर दिखलाई पड़े। मैं अपने पर झुँझला उठा—आत्म-उन्मोह से मुझे चिढ़ है। मैं समझने लगा, ये अक्षर इन ईंटों पर नहीं हैं; बल्कि मेरा मन उन्हें अपने भीतर से निकालकर यहाँ अंकित कर रहा है। अब फिर जो देखा, तो अक्षर नहीं दीख रहे थे।

सबेरे ईंट के टुकड़े कुछ कड़े हो गये थे। मैंने तय किया, इन ईंटों को खूब सँभालकर निकालना चाहिये। इसके लिये मैंने लकड़ी के समतल तख्तों को रस्सी से बाँधकर तराजू के पल्लों-जैसा बनाया। आज मैंने

अपने दोस्त को कहा कि कूएँ का काम सिर्फ मैं और आप करेंगे— मजदूरों को कूएँ के पास पड़ी मिट्टी को दूर हटाने के काम में लगा दीजिये। मजदूरों ने, जो नये हुक्म को सुना, तो उन्हें और निश्चय हो गया कि यह ईंटें उसी चहबच्चे की हैं, जहाँ कि सतयुग के किसी राजा की अपार धन-राशि गड़ी हुई है।

मैंने पहले स्तर की 'ईंटें' तख्ते के ऊपर रख, धीरे-धीरे खिसकाकर ऊपर भेजना शुरू किया। मेरे दोस्त दो तीन के देखने के बाद जोर से बोल उठे—'इनपर तो अक्षर खुदे मालूम पड़ते हैं।' नीचे रोशनी कम थी, मैं ऊपर चला आया। देखा सचमुच मिटे हुये ब्राह्मी अक्षर हैं, और सभी 'ईंटों' पर। अब मुझे यह समझने में देर नहीं लगी कि यह ईंटें नहीं, किसी पोथी के पन्ने हैं। मैंने दूसरे स्तर की ईंटों को उठाकर देखा, तो वहाँ अक्षर बहुत ही साफ खुदे हुए थे, ईंट अपेक्षाकृत ज्यादा मजबूत थी, और मैंने उसे सावित ही ऊपर पहुँचाया।

अशोक के ब्राह्मी शिला-लेखों को मैं वैसे ही पढ़ सकता हूँ, जिस तरह आप इस छपी हुई पुस्तक को पढ़ रहे हैं। इसलिए, मैंने एक कापी पर ईंट की दोनों ओर खुदी पंक्तियों को नागरी अक्षर में उतार डाला। सारी ईंट या पन्ने में कोई अक्षर अस्पष्ट नहीं था, यद्यपि कुछ के अक्षर अशोक के अक्षरों से भिन्नता रखने के कारण पढ़े जाने में पहले सन्दिग्ध से जँचे। भाषा भी अशोक के शिला-लेखों की भाषा से कुछ भेद रखती थी; किन्तु भाषा की कितनी ही पिछली पीढ़ियों से परिचित मेरे लिये वह कुछ ही समय-बाद दुरूह नहीं सावित हुई। और, इस प्रकार भाषा के सन्देह को लिपि-द्वारा और लिपि के संदेह को भाषा द्वारा मिटाता सारी ईंट को लिख डाला। ईंट की हर तरफ सोलह-सोलह पंक्तियाँ थी और हर पंक्ति में छव्वीस-सत्ताईस अक्षर थे—अर्थात्, एक ईंट पर औसतन एक हजार अक्षर (अथवा पंद्रह श्लोक)।

उस वक्त की मेरे मन की अवस्था को मत पछिये—आनंद हृदय की सीमा को तोड़ देना चाहता था। आनंद की चरम सीमा आनंद से विल्कुल विचित्र होती है, यह अनुभव मुझे उसी वक्त हुआ। मेरे दोस्त अक्षरों और मेरी चेष्टाओं को देखकर इन ईंटों के असाधारण महत्त्व को समझ गये थे। लिखना समाप्त होते ही मैं धूप में ईंट को छोड़, खेमे में चला आया और दोस्त की उत्सुकता को देख कहने लगा—“यह ईंटें नहीं, किसी पुस्तक के पन्ने हैं। लेखक ने कागज-स्याही की जगह गीली ईंटों पर ‘लौह-लेखनी’ से अपनी पुस्तक को स्वयं लिखा या लिखवाया। फिर सूख जाने पर उन्हें पकाकर छल्ली की शकल में यहाँ गाड़ दिया। इन छल्लियों में कितनी ईंटें हैं, यह हमें अभी आगे जानना है। इस पन्ने में जो लिखा हुआ है, उससे पता लगता है कि लेखक अपने आस-पास की चीजों को सुंदर—किन्तु अकृत्रिम—भाषा में वर्णित कर रहा है। हाँ, यहाँ दो नाम हैं, जो मेरे परिचित मालूम होते हैं—‘इटकाघर’ और ‘शीह’। इटकाघर बुद्ध के वक्त वैशाली-गण (वज्जी देश) में एक अच्छी खासी बस्ती थी, इसका शब्दार्थ है ईंटों का घर। यहीं शीह (=सिंह) का ‘कम्मन्त’ (=खेती) थी। सिंह वैशाली-गण के सेनापति का भी नाम है; किन्तु अभी यह नहीं कह सकता कि यह सिंह वही है; और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सिंह इस ‘पुस्तक’ का लेखक है। कुछ भी हो, इन वृत्तीय पंक्तियों में जिस तरह का वर्णन मिल रहा है, यदि वही ढंग सारे ग्रन्थ का है, तो यह दुनिया के महान् आविष्कारों में है, इसमें सन्देह नहीं।”

पाठक, पुस्तक के बारे में ज्यादा जानने की जगह पुस्तक को पढ़ने के लिये उतावले हो रहे होंगे, और ऐसे उतावलेपन का मैं खुद शिकार हूँ। यह आप इसीसे जान सकते हैं कि मूल के प्रकाशन के बहुत पहले अनुवादित “सिंह सेनापति” आप के सामने उपस्थित हो रहा है। हाँ, एक दो बातों के सुनने के लिये और धैर्य रखें। सारी पुस्तक के लिख

तथा अनुवाद कर जाने पर इसमें सन्देह नहीं रह गया कि ग्रन्थकार और कोई नहीं, स्वयं वैशाली प्रजातंत्र का महान् सेनापति मिह है। उसने अपनी जीवनी नहीं, बल्कि अपने समय के संसार का सजीव वर्णन इस पुस्तक के रूप में पेश किया है। हाँ, उसमें उसके जीवन की कुछ बातें आ जाती हैं। अफ़मोस है, मिह के जीवन की कुछ 'ईंटें' अक्षर-शून्य हो चुकी हैं। लेकिन, जो कुछ हमारे सामने है, वह कम सन्तोषजनक नहीं है। —पुस्तक की ऊपरी छल्ली तो अपाठ्य हो ही गई है, साथ ही बीच-बीच में भी कोई-कोई अधपकी ईंट पड़ी नहीं जा सकती। इसीलिये ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ आप रिक्त स्थान पायेंगे। आगे की ईंटों को देखने से मालूम हुआ कि उनपर 'ईंट-अंक' भी दिये हुए हैं, यद्यपि यह अंकन अंक द्वारा नहीं, अक्षरों द्वारा हुआ है—हमारा क्या, सारी दुनिया का आजकल का अंक सिर्फ़ तेरह-चौदह सौ वर्ष पहले भारत में ही आविष्कृत हुआ था; इसलिये पुस्तक में उसका अभाव स्वाभाविक है। आखिरी बात यह कि ढाई हजार वर्ष बाद मैं आज 'मिह सेनापति' को (यह नाम मेरा दिया हुआ है, पुस्तक का नाम कहीं नहीं मिला, साथ ही परिच्छेद के अंक तथा विषय भी मेरे दिये हुए हैं) तत्कालीन वैशाली की भाषा से हिन्दी में अनुवाद मात्र करके आपके सामने पेश कर रहा हूँ। मैंने अपनी ओर से यहां जो कुछ जोड़ा है, वह चतुष्कोण ब्राकेट [] के भीतर। जहाँ की ईंटें लुप्त हैं; वहाँ (× × × ×) चिह्न दे दिये हैं; जहाँ अक्षर नहीं पड़े जाते, वहाँ (.....) चिह्न है। हाँ, प्राचीन भौगोलिक नामों की जगह कहीं-कहीं मैंने आधुनिक नाम पाठकों की सुविधा के लिये दे दिये हैं। ये मूल नाम मूल पुस्तक के प्रकाशित हो जाने पर मालूम हो जायेंगे। सिंह के समय के रीति-रिवाज में आज के हिन्दू-धर्म से बिल्कुल उलटी बातें यहाँ दिखाई पड़ेंगी। मैं हिन्दू-पाठकों से प्रार्थना करूँगा कि उसके लिये मुझे आप गाली भले ही दे लें; किन्तु यह खयाल रखें कि मैं आज के

कितने ही हिन्दू-लेखकों की भाँति मैं यहाँ सत्य के साथ गद्दारी करने के लिये तैयार नहीं हूँ। मैं सिंह सेनापति के साथ बेईमानी नहीं कर सकता। आप को मेरी सच्चाई पर सन्देह हो, तो इन सोलह सौ 'ईंटों' को जाकर पटना-म्यूजियम् में देख लीजिये। कुछ और धैर्य धरें, तो 'ईंटों' के फोटो तथा उनके नागरी अक्षर-परिवर्तन के साथ छपी पुस्तक ही आप के पास चली आयेगी। मैं आज की संकीर्ण हिन्दू-मनोवृत्ति की परवाह नहीं करता, मैं पर्वाह करता हूँ, सत्य की—कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी। —संपादक

(१)

तक्षशिला में आचार्य बहुलाश्व के सामने

× × × [दूसरे माथियों के] बाद मुझे आचार्य के सामने जाना पड़ा । आचार्य बहुलाश्व ने पूछा—“तुम्हारा नाम-गोत्र, तात !”

“गोत्र काश्यप और नाम सिंह” कहते मैंने गँडे की ढाल आचार्य के सामने रखी ।

आचार्य ने जहाँ-तहाँ लोहे की कीलों से जटित उस ढाल को हाथ में लेकर—“बड़ी सुंदर है यह ढाल और साथ ही बहुत ही मजबूत भी।”

“मेरे पिता ने गँडे को अपने हाथ से मारा था, और उसीसे बनी ढालों में यह एक है।”

“तो वत्स सिंह ! तुम्हारे पिता को तक्षशिलावालों की प्रिय वस्तु मालूम है, तभी तो उन्होंने खास तौर से इसे संपादन करके भेजा ?”

“लेकिन, आचार्य ! मेरे पिता तेरह वर्ष पहिले मर चुके । उस वक्त मैं पाँच ही वर्ष का था ।”

“आह वत्स ! बिना पिता के पुत्र का कष्ट मुझे खूब मालूम है । मैं आठ वर्ष का था, जब मेरे पिता मरे थे । किन्तु, मेरे तीन बड़े भाई और माँ थी । तुम्हारी माँ तो होगी ?”

“हाँ, मेरी पुत्र-प्राणा जननी जीवित हैं । उनकी मैं पहली सन्तान था । माँ ने दूसरा व्याह किया, किन्तु सौभाग्य से उनके नये पति मेरे द्वितीय पिता साबित हुए । उन्हीं की कृपा से मैं अब तक कुछ सीख-पढ़ सका हूँ ।”

“तो वत्स ! मैं समझता हूँ, तुम शुल्क देकर नहीं पढ़ सकोगे; किन्तु उसकी पर्वाह न करो । तुम्हारे जैसे धर्म—निःशुल्क—अन्तर्वासी [शिष्य] के लिये बहुलाश्व का घर खुला हुआ है ।”

“आचार्य की इस असीम कृपा के लिये मैं मुँह से क्या कह सकता हूँ ?”

“कुछ कहने की जरूरत नहीं। तुम अपने को मेरी विद्या का अच्छा पात्र साबित करना।”

“मैं कोशिश करूँगा, आचार्य ! और वैशाली में जिस तरह अपने को मैं आचार्य महाली का योग्य शिष्य साबित करने में सफल हुआ था, वैसा ही यहाँ भी करूँगा।”

“तो तुम वैशालीगण के निवासी हो। पूर्व में वज्जी देश से आये हो ? मेरे मित्र और सहपाठी आचार्य महाली लिच्छवी के शिष्य हो ? मुझे बहुत खुशी है। वत्स मिह ! तुम तक्षशिला को वैशाली समझना। पूर्व में वैशाली ही है, जिसपर हमें गर्व है। और तो सारे रजुल्ले हैं।—कुरु, पंचाल, वत्स, कोमल, मगध सारी रजुल्लियाँ हैं। वहाँ से आर्यत्व नष्ट हो चुका है। वहाँ कंधे पर सीधा सर रखकर चलनेवाला पुरुष कहाँ है ? ये रजुल्ले अपने को देव कहलवाते हैं, और आर्य भी। आर्य भाई-भाई हो सकते हैं, उनमें कोई देव रजुल्ला नहीं हो सकता। सतलज के इस पार कहीं किसी रजुल्ले को देखा, वत्स ?”

“नहीं, आचार्य !”

“हाँ, पुत्र ! हमारे सप्तसिंधु में चाहे मल्ल में जाओ, मद्र में जाओ या इस पूर्व गंधार में, सभी जगह गण का शासन पाओगे। यहाँ कोई रजुल्ला नहीं। यहाँ किसी के सामने पँछ हिलाना नहीं है। वैशाली की भाँति ही तक्षशिला और सागल [स्यालकोट] में गण—संघ—का शासन है। पूर्व में वैशाली रजुल्लों के समुद्र में एक गणद्वीप है। हाँ, एक ही—शाक्य, कोलिय, मल्ल नाम के गण हैं। कोसल के रजुल्ले—क्या है उसका नाम ?”

“प्रसेनजित् आचार्य !”

“हाँ, हाँ, प्रसेनजित्। वह यहाँ हमारे आचार्य भूरिश्रवा के पास

पढ़ता था। बिल्कुल मेधा-शून्य था। थैली थी उसके पास, नहीं तो वह तक्षशिला का विद्यार्थी नहीं हो सकता था। हाँ, पूर्व के आये विद्यार्थियों में बंधुल मल्ल और महाली का मेरे आचार्य को अभिमान था, और मुझे भी अपने कनिष्ठ गुरुभाई के तौर पर।”

“बंधुल मल्ल आचार्य ! आजकल कोमल का सेनापति है।”

“धिकार है, रजुल्ले की चाकरी करने की जगह भूखे मर जाना अच्छा था, जहर खा लेना अच्छा था, क्यों वत्स सिंह !”

“हाँ, आचार्य ! हम गण-पुरुषों से सबसे कम आशा यही की जा सकती थी।”

“वत्स सिंह ! हम अपने पूर्व के गण के भाइयों के साथ पढ़ाने-लिखाने सत्रमें विशेष वर्ताव करते हैं। मो क्यों ? इसीलिये कि हम उन्हें पूर्व में अपना ध्वजाधारी समझते हैं, हम स्वतंत्र मानव हैं—आर्य हैं, और आर्यमात्र को स्वतंत्र देखना चाहते हैं। हमारे पूर्वजों के कुछ भाई-बिरादर जब पूर्व में गये और उन्होंने आर्यों की परंपरा छोड़ कुरु-पंचाल के गणों—जनो की जगह रजुल्लियाँ कायम कर लीं, उमी दिन से हमने उन्हें पतित समझ लिया। हम उन्हें आर्य नहीं समझते, वह भले ही अपने को आर्य कहते फिरें। आर्यों का देश यह है, आर्यों का धर्म यहाँ प्रचलित है, आर्यों का वर्ण-रूप यहाँ मिलता है। हाँ, तो वत्स ! पूर्व के गण के पुरुषों को इसीलिये हम प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। उनके वर्ण-रूप की सम्पत्ति हमारी-जैसी होती है। महाली लिच्छवी ऐसा ही था, बंधुल मल्ल ऐसा ही था। प्रसेनजित् मुँह के देखने ही से वर्णमंकर मालूम होता था।”

“हाँ, आचार्य ! राजे कामुक होते हैं, और कामवश हो आर्य, अर्य-आर्य, अनार्य किसीका भेद नहीं रखते ; इसीलिये उनके खून में अनार्यधारा मिली हुई है। वह वीर्य की प्रधानता मानते हैं।”

“अपना मुँह मानते हैं। कहीं से एक बार बाँध टूटा नहीं कि

पूर्वजों की पीढ़ियों से सुरक्षित की हुई विशेषता, वर्ण-सम्पत्ति धूल में मिल गई। जिस “अँगुली को साँप ने डँसा, उसे हम काट डालते हैं, जिस डाली में धुन लगा, उसे हम वृक्ष पर रहने नहीं देते। यही वजह है, जो तुम यहाँ सभी स्त्री-पुरुषों को गौरवर्ण पाते हो, सभी के केशों को अग्नि की ज्वाला की भाँति पिंगल, पिशंग या पांडुर, सभी की आँखों को नीली या सुवर्ण वर्ण पाते हो। अभी तुमसे पहले पूर्व के तीन तरुण मेरे सामने से गुजरे हैं, क्या उनमें यह आयों की वर्ण-संपत्ति है ?”

“लेकिन आचार्य ! इसमें और भी कारण हैं। पूर्व में आयों से अनार्यों या अर्ध-आयों की संख्या अधिक है, यद्यपि वह आयों के अधीन हैं। किन्तु, उनकी इतनी बहुसंख्या आर्य-रुधिर को दूषित करने के लिये पर्याप्त है।”

“फिर तुम्हारा रुधिर क्यों नहीं दूषित हुआ ? वत्स ! तुम्हें मेरी रोहिणी के साथ खड़ा कर दिया जाय, तो कौन कहेगा यह रोहिणी का भाई नहीं है ? उसीके तरह के पिंगल केश, उसी तरह के अतसी-नील-नेत्र । महाली को भी मैंने वैसा ही देखा, बंधुल मल्ल को भी वैसा ही देखा।”

“लेकिन इसके लिए हम पूर्व के गणवालों को कड़ा प्रतिबंध रखना होता है। हम पिता-माता किसी तरफ से भी बाहर से संबंध नहीं रखने देते। हम अपने या अपने-जैसे गणों से बाहर शादी-ब्याह नहीं करते। तो भी इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे यहाँ अर्ध-आर्य नहीं हैं। अनार्य काली दासियाँ हमारे घरों में ज्यादा दिखाई पड़ती हैं।”

“यह खतरे की बात है, वत्स ! बड़े खतरे की बात है। आर्य-रुधिर अनार्य-क्षेत्र में जायगा, और वहाँ से आयों की तबाही शुरू होगी। हमारे यहाँ देखो, दास-प्रथा नहीं है। कुछ अनार्य कर्मकर-नौकर—हैं। उनको हमारे गण-शासन में अधिकार नहीं है; किन्तु, साथ ही हम उनके शरीर को खरीद-बेच की चीज नहीं समझते। वैसे सतलज से इस पार

तुमने अनार्य देखे भी कम होंगे । अच्छा, रहने दो इसे । वैशाली गण का कुशल तो है ? सौम्य महाली स्वस्थ-प्रसन्न तो हैं ?”

“हाँ, आचार्य ! वैशाली स्फीत समृद्ध है । उसकी क्यारियाँ गंध-शाली पैदा करती हैं, उसकी गायों का दूध-घी-मांस लिच्छवियों के शरीर को दृष्ट-पुष्ट करता है । मल्ल, शाक्य, कोलिय को कोसल-राज के चरणों में झुके देख, मगध-राज विविसार ने वैशाली को भी अवनत-शिर करना चाहा था । दक्षिण और उत्तर-अंग (अंगुत्तराप) के विजय के बाद उसने वैशाली के वैभव को छीनना चाहा था ; किन्तु अभी लिच्छवियों के खड्ग तीक्ष्ण हैं, अभी उनके तर्कश शर-शून्य नहीं हैं, अभी लिच्छवियों की रुधिर-धारा उष्ण है । लिच्छवियों की भुजाओं ने मगध-राज को ऐसी जवर्दस्त पराजय दी कि आज १३ वर्ष हो गये, तब से मगध-राज ने वैशाली की ओर ताकने की भी हिम्मत नहीं की । इसी युद्ध में मेरे पिता मारे गये ।”

“तो तात ! तुम वीर-पुत्र हो ! अच्छा, मेरे भाई महाली ने तुम्हे क्या-क्या शिक्षा दी है ?”

“आचार्य ! मैंने मुष्टि-युद्ध सीखा है, मल्ल-युद्ध, खड्ग-युद्ध जानता हूँ । धनुष में शब्द-वेध, चल-वेध जानता हूँ । अश्व, रथ, गज, पदाति के आक्रमण-प्रत्याक्रमण के कौशलों तथा व्यूह और दुर्ग की रचना का ज्ञान मेरा प्रारंभिक है ।”

“तो तात ! तुम १८ साल की आयु के अनुरूप जितना ज्ञान होना चाहिये, उससे ज्यादा सीख चुके हो । किन्तु वत्स ! विद्या का अन्त नहीं है, और न अन्त होगा, वह दिन पर दिन बढ़ती ही जायगी । हमारे पास पूर्व के ही नहीं, पश्चिम के भी विद्यार्थी आते हैं । यहाँ पश्चिम गंधार, कम्बोज, पर्शु [पारस] बबेरू [बाबुल] और यवन तक के शिष्यार्थी हैं । हमारे ये दूर के छात्र सिर्फ छात्र ही नहीं हैं ; बल्कि इनसे हम कई नये युद्ध-कौशल सीखते हैं । अभी पार्शव शास [शाह] को

यवन वीरो ने जो करारी शिकस्त दी है, उसमें उन्होंने एक बिल्कुल नये दाँव-पेंच इस्तेमाल किये हैं। किन्तु, यह सामुद्रिक युद्ध था, इसलिए हमारे और तुम्हारे गण के लिये उसका महत्त्व सिर्फ विद्या-विलास-मात्र है। किन्तु, वत्स ! इससे यह तो समझ सकते हो कि युद्ध-विद्या दिन पर दिन बढ़ रही है। हम तक्षशिलावासियों को इस बढ़ते हुए छोटे से छोटे ज्ञान की भी भारी पर्वाह रहती है। यदि हम बासी ज्ञान को ही सिखलाते रहें, तो तक्षशिला कितने दिनों तक अपने स्थान को कायम रख सकेगी ? और इसके लिये तक्षशिला ने उपयुक्त स्थान भी पाया है। पूरव में जितना दूर वैशाली है, उतना ही पच्छिम जाने पर हम पार्श्व शास की राजधानी—पर्शुपुर—पार कर जायेंगे। यवन उससे बहुत दूर हैं, किन्तु यवन हमारे मित्र हैं।—शत्रु का शत्रु मित्र होता है। यवनों ने शास को बुरी हार दी, जिस वक्त यह समाचार हमारे इस पूर्व गंधार में पहुँचा, उस दिन सब जगह खुशियाँ मनाई गईं। हमें अफसोस है, हमारा पश्चिम गंधार—महासिन्धु के उस पार का प्रदेश—अब भी पार्श्वों के हाथ में है। यही नहीं, यदि यवनों से हार न खाई होती, तो वह हमारी तक्षशिला की ओर बढ़नेवाले थे।”

“आचार्य ! जो भय तक्षशिला को पश्चिम से है, वही भय वैशाली को मगध से है। तक्षशिला को भय सिर्फ एक ओर—पश्चिम से है, जब कि वैशाली के पूरव और दक्खिन दोनों ओर दुष्ट विविसार का राज्य है। विविसार अभी चुप है ; किंतु हम लिच्छवि-कुमार जानते हैं, वह किसी वक्त फिर चढ़-दौड़ सकता है।”

“किन्तु, मगध का रजुल्ला पार्श्व शास के सामने कोई हस्ती नहीं रखता। महासिन्धु—जानते हो, यहाँ से तीन-चार दिन के रास्ते पर है। वहाँ से यवनों के देश तक इम मूजी का शासन है। हम गंधार लड़ने में तथा लड़ने की विद्या में कम नहीं हैं ; किन्तु पर्शुओं ने आधे लोक को अपने अधीन कर रखा है। यह हमारी सबसे दिक्कत है,

जिसका जवाब हमें नहीं सूझ पड़ता । यदि सप्त-सिन्धु के सभी गण एक हो जायँ, तो शायद मुकाबिला कर सकें ; किन्तु एक होना गण-परंपरा को छोड़ना होगा, गण-धर्म को तिलांजलि देनी होगी ।”

“यही दिक्कत हमारे सामने भी आई थी । आचार्य ! शाक्य, कोलिय, मल्ल इसीलिये कोसलों के चरण में गिरें ; क्योंकि वह अपनी परंपरा के विरुद्ध एक नहीं हो सकते थे, और अलग-अलग रहने कोसल-राजसेना से मुकाबिला नहीं कर सकते थे ।”

“.....और उसी कोसल का सेनापति बना है, बंधुल मल्ल ! धिक्कार है !!”

“सभी धिक्कारते हैं, आचार्य ! अब वह नाम का मल्ल है । कोई मल्ल उसे अपना नहीं समझता ।”

“आखिर वत्स ! बंधुल क्यों अपनी देह को बेंचने पर मजबूर हुआ, इसका कोई कारण मालूम हुआ ?”

“कहते हैं, मल्लों ने तक्षशिला की विद्या की परीक्षा के लिये एक बार में काट डालने के लिये सात खूँटे गाड़ दिये ।”

“तो फिर ?”

“बंधुल मल्ल ने काट तो दिया; किन्तु उससे भून् की आवाज आई, और देखा तो हर खूँटे के बीच में लोहे की कीलें समाई हुई हैं ।”

“मल्लों का यह काम वीरोचित, आयोचित न था ।”

“बंधुल मल्ल को बहुत अमर्ष हुआ । उसने कहा—‘कुसीनारा में मेरा कोई नहीं, कुसीनारा से मुझे कोई काम नहीं’, और उसने तक्षशिला के सहपाठी कोसलराज प्रसेनजित् के हाथ में अपने को बेच डाला । नीच, पामर बंधुल !”

“और जिस वक्त मल्लभूमि को अपनी स्वतंत्रता को फिर से प्राप्त करने के लिये उसकी सेवाओं की आवश्यकता थी !”

“हाँ ! उसी वक्त ।”

“मुझे बंधुल से वत्स ! ऐसी आशा न थी । तक्षशिला मेरा अपमान करे, मुझे प्रताड़ित करे; किन्तु क्या तक्षशिला के दुश्मनों से मेरा मिल जाना कभी क्षान्तव्य हो सकता है ? बंधुल ! तूने अच्छा नहीं किया, तूने आचार्य भूरिश्रवा के नाम को धब्बा लगाया । अच्छा, तो वत्स ! तुम्हारे बारे में और अधिक जानने की जरूरत नहीं । आज से तुम मेरे शिष्य उपनीत हुए ।”

यह कह आचार्य ने अपनी पुत्री से कहा—“रोहिणी ! सिंह को ले जाओ । अपने भाई की तरह समझना । इसके रहने तथा खाने-पीने का बंदोबस्त करना । विशेष अपनी माँ से पूछ लेना ।

हमारे वार्त्तालाप के वक्त रोहिणी आचार्य के बगल में बैठी थी । जिस वक्त आचार्य ने मेरे वर्णरूप की रोहिणी से बहिन-भाई-जैसी समानता बतलाई, उसी वक्त मेरी आँखें रोहिणी के मुख पर गड़ गई ; और उसी वक्त मुझे अपनी बहिन सोमा याद आने लगी । सोमा भी १० ही साल की है । वह भी इसी तरह की सुवर्णकेशी है । उसकी भी नासा ऐसी ही उन्नत, ललाट ऐसा ही प्रशस्त, वर्ण ऐसा ही दीप्तिमान, आँखें ऐसी ही विशाल हैं । हाँ, सोमा से यह बड़ी है । सार्थ [कारवान] के साथ पैदल चलते हुए मैं आठ मास में तक्षशिला पहुँचा था । इस बीच में सोमा की प्रिय स्मृति कुछ क्षीण-सी पड़ने लगी थी । किन्तु, रोहिणी के देखते ही वह सहस्रगुनी जाग उठी । मेरे सामने रोहिणी बैठी थी; किन्तु मैं देख रहा था, वहाँ सोमा को । आचार्य और दूसरे देवकर क्या कहेंगे, यह सोचकर मैं अपने पर काबू पाने की कोशिश कर रहा था; और इसमें शक नहीं, यदि आचार्य की मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद बातचीत ने मेरी सहायता न की होती, तो मैं अपने आँसुओं को रोक न सकता । बीच-बीच में रोहिणी की ओर जब भी नजर जाती, तो दिल में सर्द हवा लगती मालूम होती—यह जाड़ों का मध्य था, और तक्षशिला के आस-पास की पहाड़ियों पर बर्फ की सफेद चादर पड़ी हुई थी ।

आचार्य के आदेश के बाद रोहिणी मेरे पास आ खड़ी हुई। मैं उसके साथ मूक हो चल पड़ा। आचार्य बहुलाश्व तक्षशिला गणतंत्र के एक समृद्ध और सम्मान्त व्यक्ति हैं। वह गण के प्रधान सेनापति रह चुके हैं। गण-संस्था [प्रजातंत्र सभा] में उनका बहुत प्रभाव है। उनका घर या महल सात खंडों में विभक्त है। बाहरी खंड में घोड़साल की पंक्तियाँ हैं। यहाँ के घोड़ों को देखकर मैं समझने लगा—क्यों सैधव [सिन्धुवाले] घोड़ों की इतनी कद्र है। आचार्य को घोड़ों के रखने का ही नहीं, उनकी नस्ल बेहतर बनाने का बड़ा शौक है। तक्षशिला के दूसरे नागरिकों की भांति आचार्य बहुलाश्व के भी नगर से बाहर दूर-दूर पर कितने ही कर्मान्त [खेतियाँ] हैं, जिनमें एक को आचार्य ने घोड़ों के पालने के लिये नियुक्त कर रखा है। आचार्य को घोड़सवारी का बहुत शौक है। साठ वर्ष की अवस्था में भी वह नियम से सबेरे एक घंटा घुड़सवारी करते हैं; और इसके लिए हरवक्त सोलह घोड़े उनके अस्तबल में मौजूद रहते हैं। रोहिणी ने मुझे गौर से घोड़ों की ओर देखते देखकर कहा—“क्या भूता सिंह ! तुम घुड़सवारी का शौक रखते हो ?”

“जरूर, रोहिणी ! हमारे यहाँ सैधव घोड़े यहीं से जाते हैं। किन्तु, इन घोड़ों को देखने से पता लगता है, वर मिर्फ यहाँ के ‘छँटुआ’ होते हैं।”

“हाँ, हमारे घर से भी प्रति वर्ष चालीस-पचास घोड़े व्यापारी खरीदते हैं, और तात कभी भी अच्छे बच्चों को नहीं बेचते।”

“हाँ, यह तो इनके देखने से ही मालूम होता है। मैंने वैशाली में ऐसे घोड़े किसीके पास नहीं देखे। एक बात पूछूँ, रोहिणी ! तुम घुड़सवारी सीखती हो कि नहीं ?”

“सीखती ! मैं इन सोलहों घोड़ों में किसीको भी दौड़ा सकती हूँ। पिता के साथ मैं रोज सबेरे घोड़े दौड़ाती हूँ।”

“मेरी छोटी बहिन सोमा घोड़े पर नहीं चढ़ती; इसीलिए पूछा।”

“क्या भाई सिंह ! तुम्हारी बहिन भी है ?”

“हाँ, मेरी माँ की लड़की । तुम्हारी ही जैसी । अभी वह दस साल की है, और तुम ?”

“ओ हो, कितनी समानता ! मैं भी दस ही साल की हूँ ।”

“किन्तु, वह आकार में तुम से छोटी है—कम से कम मेरा अंदाज ऐसा ही है ; हो सकता है, पिछले आठ महीनों में कुछ और बढ़ गई हो । लेकिन, सोमा कम बोलती है ।”

“तो मैं बहुत बोलती हूँ ।”—कह रोहिणी कुछ अनमनी-सी हो गई ।

मैंने उसकी पीठ पर सुवर्णतन्तु की भाँति बिछे केशों पर हाथ फेरते हुए कहा—“नहीं, रोहिणी बचिया ! मैं सोमा को तुम्हारे सामने गूँगी कहने जा रहा था । मैं किसी लड़की का गूँगी होना पसंद नहीं करता । अच्छा, तो मैं भी किसी दिन तुम्हारे साथ घोड़े दौड़ाऊँगा ।”

“तो सिंह भैया ! तुम उस अत्यन्त लाल घोड़े पर चढ़ना । उसका नाम रोहित् है । वह सबसे अच्छा और पिताजी का अत्यन्त प्रिय घोड़ा है । वह मुझे पहचानता है । देखो, मैं उसके पास जाती हूँ ।”—कह रोहिणी रोहित् की ओर जाने लगी । देखते ही वह हिनहिनाया, और पाम जाते ही रोहिणी के सिर को सूँघने लगा । रोहिणी प्रसन्नता के साथ बोली—“रोहित् मुझे प्यार करता है, पिताजी मेरे ललाट पर चुंबन देते, उपाघ्राण करते हैं, रोहित् जानता है; और वह भी मेरे केशों का उपाघ्राण करता है । क्या सिंह भैया ! तुमने ऐसा, आदमी-जैसा समझदार घोड़ा देखा है ?”

मैंने हँसकर कहा—“नहीं बच्ची ! इतना आदमी-जैसा नहीं । और, तुमने रोहित् की सवारी कभी की है ?”

“सवारी की तो है ; किन्तु देखो, हाथ उठाकर भी मैं उसकी पीठ पर नहीं पहुँच पाती, इसलिए चढ़ने में तात की सहायता लेनी पड़ती है ।”—कह रोहिणी मुख-म्लान हो मेरे पास आई ।

मैंने उसकी ठुड्डी को उठाकर कहा—“नहीं रोहिणी ! तुम सदा इतनी छोटी ही नहीं रहोगी । तुम थोड़े की पीठ से भी ऊँची हो जाओगी । और, रोहित् पर जब भी चढ़ने की जरूरत हो, मैं उठाकर उसकी पीठ पर रखने के लिये मौजूद हूँ ।”

“लेकिन, सिंह भैया ! तुम्हें रोहित् पास नहीं आने देगा । रोहित् अपरिचित को अपने पास नहीं आने देता—न उसे ही जिसने नाराज कर दिया । हँसो, मत भैया ! रोहित् बहुत समझदार है । लेकिन, मैं तुमको उपाय बतलाऊँगी । रोहित् को हरे गेहूँ बहुत पसंद हैं । उसे हरे गेहूँ भुँह में देकर खिलाना शुरू करो । जब तुम्हें देखकर दिनदिनाने लगे, तो समझ लेना रोहित् तुम्हारा दोस्त बन गया ।

“अच्छा तो चलें, अभी तुम्हें भूख लगी होगी । अम्मा से मिलाकर पहले तुम्हारी लुधा को शान्त कराऊँ ।”

“हाँ, मेरी रोहिणी बचिया ! मुझे भूख लगी है, और उससे भी ज्यादा अम्मा का दर्शन करना चाहता हूँ ।”

“मेरी अम्मा बड़ी प्यारी है । तुमको भी बहुत प्यार करेगी, जब उसे मालूम होगा कि तुम्हारे भी मेरी-जैसी बहिन और अम्मा-जैसी मा है । चलो चलें”—कह वह आगे चल पड़ी ।

आचार्य बहुलाश्व [बहुत घोड़ोंवाले] नाम बिल्कुल ठीक है ।



(२)

आचार्य-पत्नी

पहले आचार्य-पत्नी के पास जाना था ; इसलिए हम ससरी तौर से ही गोशाला, और एक छात्रशाला से पार हो, वहाँ पहुँच गये । मकान का नकशा हमारे वैशाली के मकानों से बहुत मिलता-जुलता है । उसी तरह एक आँगन के गिर्द ओसारेदार कोठरियों, दालान तथा घरों की पंक्तियाँ हैं । कोई मकान दोतल्ले से कम नहीं है । अस्तबल और गोशाला के ऊपरी तल में चारे रखने के घर, दुग्धशाला तथा कर्मकरों के निवास हैं ।—हाँ, यहाँ खरीदे-बेचे जानेवाले दास-दासियाँ नहीं हैं । आचार्य बहुलाश्व को आर्य-वर्ण-सम्पत्ति का बहुत खयाल मालूम होता है । इनके नौकरों में कोई कृष्ण वर्ण या अर्ध-कृष्ण वर्ण नहीं । अधिकतर पश्चिम गंधार, पख्त, कम्बोज के हैं । कुछ पार्श्व [ईरानी] भी है । मकानों की छतें हमारे यहाँ-जैसी खपड़ैल की नहीं, बल्कि पश्चिम कोसल की तरह समतल हैं । इन्हें मिट्टी और पत्थर की कंकड़ियों से पीटकर तैयार किया जाता है । दीवारें भी पत्थर के अनगढ़ टुकड़ों से चुनी होती हैं, जिनपर मिट्टी का मोटा लेप लगा रहता है । मैंने कारीगरों को दीवारें बनाते देखा है । मुझे गुमान भी नहीं हो सकता था कि अनगढ़ छोटे-बड़े पत्थर के टुकड़ों से इतनी सिजिल और मजबूत दीवारें तैयार की जा सकती हैं । खिड़कियों, दर्वाजों में देवदार की लकड़ी इस्तेमाल की गई है । लकड़ी पर नाना भाँति के बेल-बूँटे तथा मूर्तियाँ बनाने में तक्षशिला के तक्षक वैशाली से पीछे नहीं हैं । आचार्य के अपने निवास का आँगन काफी बड़ा है, जिसमें फूलों के पौधे हैं । आज-कल हिम के कारण इनकी पत्तियाँ झड़ गई हैं । टट्टियों पर द्राक्षा [अंगूर]-लता-विना पत्ते की-फैली हुई है । रोहिणी ने बतलाया—यह मामूली द्राक्षालता नहीं है;

बल्कि कपिशा की मशहूर द्राक्षा है। पिताजी को उनके एक शिष्य ने कपिशा से भेजी है। फसल तो बीत गई, उस वक्त देखते इसके पांडुर गुच्छों को, जो हरी पत्तियों में बहुत ही सुन्दर मालूम होते हैं।”

“और मिठास ?”

“कहने से तुम्हें विश्वास नहीं होगा, भैया ! मैं खिला के दिखलाऊँगी।”

“किन्तु सूखी द्राक्षा उतनी स्वादु थोड़े ही होगी।

“सूखी नहीं ताजी-जैसी।”

“पाँच महीने पहिले की टूटी द्राक्षा ताजी-जैसी कैसे रहेगी ?”

“देखो हीगे। और कपिशा के द्राक्षा की सुरा तो तुमने न पी होगी भैया ?”

“नहीं, सिर्फ उपमा सुनी है।”

“तो आज अम्मा से कहती हूँ, आज ही तुम कपिशा की द्राक्षा खाओगे—हाँ, किन्तु इसी लता की ; और कापिशायनी सुरा तो खास कपिशा से आई। हमारा सार्थ (कारवाँ) यहाँ से व्यापार के लिये कपिशा हर साल जाता है, और हर साल सैकड़ों कुप्पे कपिशायनी सुरा वहाँ से हमारे घर आती है।”

“तो तुम्हारे घर में कापिशायनी सुरा ही पी जाती है रोहिणी !”

“नहीं, वह तो व्यापार की चीज है। क्यों पूरब के सार्थवाह भी तो तक्षशिला से कापिशायनी सुरा की हजारों चर्म-कुप्पियाँ ले जाते हैं, तुमने उसे चखा नहीं ?”

“हमारे यहाँ जाकर वह बहुत मँहगी पड़ती होगी। हम पूरब के गणतंत्री बहुत सीधा-सादा अशन-वसन रखते हैं।”

आचार्य-पत्नी की नजर मेरे ऊपर पड़ चुकी थी, इसलिये पत्रहीन द्राक्षा-लता के नीचे और ठहरना संभव न था। मैंने आचार्य-पत्नी को नमो किया, और रोहिणी ने अपनी भाषा में मेरा परिचय दिया—

“अम्मा ! यह सिंह भैया है । ताता ने सिंह को रोहिणी का भैया कहा है । और यह है भैया ही । आओ भैया ! मेरे पास खड़े तो हो जाओ । ओह, मैं तुम्हारी छाती तक ही पहुँचती हूँ । अच्छा देख अम्मा ! ताता ने सच कहा है न—सिंह मेरा बड़ा भैया है ?”

“हाँ, भैया है बच्ची ! किन्तु सिंह भैया को कुछ खिलाना-पिलाना भी है, या भैया कहकर ही पेट भर देना चाहती हो ? आओ वत्स सिंह ! यहाँ बाहर के पानी से हाथ-मुँह धोओ, फिर खाना खाते हुए बात-चीत करो ।”

“लेकिन अम्मा ! मैंने कापिशेयी द्राक्षा खिलाने के लिये कहा है ।”

“तो दौड़ जा, देखती क्या है, वहाँ से एक पिटारी (मिट्टी की) द्राक्षा ले आ ।”

“और अम्मा ! शाम को कापिशेयी सुरा भी ।”—रोहिणी ने उता-वलेपन से कहा ।

“हाँ, हाँ कापिशेयी सुरा भी । सारी खातिर तो तू ही कर डालना चाहती है । तू सिंह को अकेला अपना भैया बनाकर रखना चाहती है, अम्मा का बेटा नहीं । जा पिटारी ला । शाम को बहिन भाई की दावत कापिशेयी सुरा से होगी, और तुम रोशना से सीखे पार्श्वी नाच को भी दिखलाना ।”

रोहिणी खाद्य-भंडार की ओर दौड़ गई । मैं आँगन में रखे करपात्र से हाथ धो, आचार्य-पत्नी के साथ सीढ़ी से ऊपर कोठे पर चढ़ा । जूते यहाँ दुहरे होते हैं, नीचे अनेक तनियों की चप्पल होती है, जिसमें चमड़े की जुराब पहिनी जाती है । आचार्य-पत्नी के पैर में भी वही जूता था, और मैंने सदीं से बचने के लिये रास्ते में वैसा ही एक खरीद लिया था । हम चप्पल को द्वार पर रख दालान के भीतर गये । वहाँ फर्श पर सुन्दर बेल-बूँटेवाला कम्बल [कालीन] बिछा हुआ था । दीवारों पर दोस्तीन चित्र थे, जिनमें एक आचार्य-पत्नी के हाथों से अंकित रोहित्-जैसे

किसी घोड़े का था। दालान या भोजनशाला की सारी सजावट वैसे सीधी-सादी थी। दालान से थोड़ा हटकर रसोई-घर था। धूमनेत्र [चिमनी] से धुआँ निकल रहा था, जिससे मालूम होता था, मध्याह्न भोजन की तैयारी हो रही है।

फर्श पर हम बैठ गये। आचार्य-पत्नी ने एक सफेद ऊनी चादर हमारे सामने बिछा दी, और रसोई-घर से कुछ खाना लेने चली गई। इसी बीच रोहिणी मिट्टी की पिटारी लेकर चली आई। मुझे विश्वास नहीं था कि पाँच मास बाद भी अंगूर ताजे रह सकते हैं। पिटारी चिपटे गोल दो पाटों से बनी थी। दोनों के जोड़ को मिट्टी से सी दिया गया था। रोहिणी ने बतलाया, कपिशा में ताजे अंगूरों को इस तरह पिटारी में बंद कर रखने का बहुत रवाज है। जब किनारे की मिट्टी को तोड़कर कच्ची मिट्टी के ऊपरी पाट को हटा दिया गया, तो देखा वहाँ सुनहले दो-दो अँगुल लम्बे अंगूर रखे हुए हैं। आचार्य-पत्नी दो टुकड़े उबले मांस, सैधव लवणचूर्ण, छुरी और कुछ मिठाइयाँ लेकर चली आई, और रोहिणी को साथ ले मैंने खाना शुरू किया।

“अब बताओ सिंह ! तुम्हारी जन्मभूमि कहाँ है ?”—आचार्य-पत्नी ने एक माता के मधुर स्वर में पूछा।

मैंने उनके प्रश्न का पूरा उत्तर दे दिया। फिर उन्होंने कहा—“मैं महाली लिच्छवी को जानती हूँ। उस वक्त मैं रोहिणी से भी छोटी थी। महाली मेरे पिता भूश्रिवा के शिष्य थे। वह मुझे बड़ी मनोहर कहानियाँ सुनाया करते थे—”

“सिंह भैया ! तुम भी कहानी जानते होगे ? तुम मुझे अच्छी-अच्छी बड़ी-बड़ी कहानियाँ सुनाना।”—रोहिणी ने बीच में कहा।

“तो रोहिणी ! तू हमें बात करने का मौका नहीं देगी। हाँ, तो सिंह ! महाली उस समय तक्षशिला के मुष्टिकों में सबसे बलिष्ठ थे।

उनका साथ यदि थोड़ा-बहुत कोई दे सकता था, तो वह तुम्हारे आचार्य ही थे। और, रास्ते में कैसे आये सिंह ?”

“रास्ते में सार्थ के साथ आया, मातर ! वैशाली के एक व्यापारी का सार्थ साकेत आ रहा था। उससे जब मैंने साकेत तक के लिये कोई काम माँगा, तो उसने नाव पर सामान उतारने-चढ़ाने तथा रात को हथियार लेकर पहरा देने के बदले मुफ्त वैशाली पहुँचाने तथा पचीस कार्पाण देना तय किया।”

“तो वत्स ! तुम मजदूरी करते यहाँ पहुँचे ? बहुत तकलीफ हुई होगी ?”

“साकेत तक तो नहीं, मातर ! वह तो नाव का सफर था। हम मही से गंगा में उतर ऊपर की ओर चलते सरयू में चले गये। हमारे सार्थवाहक के पास पचास नावें और हजार से ऊपर आदमी थे। सिर्फ एक जगह सरयू के आधे रास्ते पर डाकुओं ने हमला करना चाहा था। किन्तु, हमारी संख्या ज्यादा और हमारे धनुर्धारी बहुत मजबूत थे। वह देख डाकू दो-चार ही बाण चला जंगल में घुस गये। हमारे घुड़-सवारों ने पीछा करना चाहा ; किन्तु उस जंगल में पता लगाना मुश्किल था। हाँ, साकेत से इधर कष्ट ज्यादा हुआ। श्रावस्ती के श्रेष्ठी मुदत्त का सार्थ तक्षिला आ रहा था। इस सार्थ में एक हजार गाड़ियाँ, ढाई हजार बैल, डेढ़ हजार आदमी थे। रास्ते में बड़े-बड़े जंगल, बड़ी-बड़ी नदियाँ पार करनी पड़ीं। रास्ता बनाना, इतने पशुओं-मनुष्यों के घास-चारे का प्रबंध करना ; फिर रात-दिन सशस्त्र बारी-बारी से सार्थ की रखवाली करना, भारी चिंता का काम था। मुझे एक गाड़ी पर प्रहरी का काम मिला था। खा-पीकर तक्षिला तक के लिये १०० कार्पाण का वेतन बहुत कम था। किन्तु, मुझे आखिर में नौकरी मिली थी, इस-लिये मेरे कम वेतन स्वीकार करने से किसी दूसरे कर्मकर को कोई हानि न थी।”

“वैशाली से यहाँ आने में कितने मास लगे, वत्स !”

“आठ महीने, मातर !”

“खाते भी रहो, तात ! वच्छे का गोश्त, गरम-गरम ही अच्छा लगता है । लाओ चाक, मैं काटकर टुकड़े देती हूँ । और, यह मधुगोलक भी खाओ । अंगूर क्या खाते हो, यह तो दुर्लभ नहीं है ।

“किन्तु मातर, हमारे पूरव में तो मधुगोलक (लड्डू) बिल्कुल मामूली खाद्य है । हाँ, अंगूर को हम दुर्लभ समझते हैं । सूखी द्राक्षा तो मिल भी जाती है ; किन्तु ताजे अंगूर तो वहाँ के लिये सपने की चीज है ।”

“अच्छा बेटा ! शकट (छकड़े) के सार्थ की बात कहो । इतनी देर क्यों लगी ?”

“शकट वैसे दो योजन से ज्यादा चल भी नहीं सकते । फिर कहीं घास-चारा नहीं मिलता है, वहाँ जल्दी चलना पड़ता है; कहीं घास-चारा सुलभ होता है, वहाँ सार्थ चार-पाँच दिन विश्राम कर बैलों तथा सवारी के घोड़ों को बल-युक्त करता है । फिर रास्ते के अहिच्छत्र, हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ जैसे पचासों नगरों और निगमों में व्यापार भी करना पड़ता है । हमारे शकटों में काशिक वस्त्र—कौषेय और कार्पास दोनों—की भरती ज्यादा थी । इनके अतिरिक्त चंदन, सुगंधि, दन्त, सुवर्ण, मणि-कार्य आदि वस्तुएँ भी थीं । गंगा, यमुना तथा दूसरी नदियों के तीर्थों (घाटों) पर श्रेष्ठी मुदत्त (अनाथपिंडक) के कितने ही पण्यागार हैं, जहाँ अपने कृत पदार्थों को छोड़ते तथा क्रेय पदार्थों को हम लेते जाते थे ।”

“तो मुदत्त बहुत ही भारी सार्थवाह मालूम होता है ।”

“सारे पूरव में मातर ! उसके बराबर का श्रेष्ठी-सार्थवाह इस वक्त कोई नहीं है, और शायद जम्बूद्वीप में अन्यत्र मुदिकल से ही ऐसा हो । तक्षशिला में भी उसका पण्यागार है, मातर !”

“तक्षशिला में इतनी दूर !”

“हाँ, यहीं क्यों, पश्चिम और पूर्व के समुद्रों के भरुकच्छ (भड़ोंच) और ताम्रलित जैसे महातीर्थों पर उसके परयागार तथा महान् जलपोत हैं। चारों समुद्रों की लक्ष्मी इस वक्त श्रावस्ती में सुदत्त के पास वैसे ही बहती चली आ रही है, जैसे नदियाँ समुद्र के पास।”

“अच्छा, किन्तु अपने सार्थ की बात करो।”

“श्रेष्ठी सुदत्त का सार्थ इतना दृढ़ और संगठित होता है कि उसकी ध्वजा को दूर से देखते ही दस्यु (डाकू) रास्ता छोड़कर हट जाते हैं। सिर्फ पंचाल के जंगल में एक ध्वजवद्ध (महान्) चोर ने हमें छेड़ा था। उसके पास पाँच सौ योद्धा तथा कितने ही घोड़े थे। सिर्फ एक घंटे वह टिक सके। मुझे थोड़ा-सा वहीं आचार्य-महाली की खड्ग-युक्ति इस्तेमाल करने का मौका मिला। अकेले मैंने आठ डाकुओं के रक्त से अपने खड्ग को स्नान कराया।

“और तुम्हें पुत्र ! कहीं चोट नहीं आयी ?”

“जरा-सी चोट मातर ! यहाँ बाँह में कलाई के ऊपर”—कह मैंने कवल कंचुक को हटाकर लंबे दाग को दिखलाया।

रोहिणी ने—जो मुझे अंगूर साफ करके दे रही थी—तुरंत अपनी अंगुलियों को वहाँ रखकर कहा—

“भैया सिंह ! तो बहुत खून बहता होगा !”

“नहीं रोहिणी ! तलवार के घाव में उतना खून बहने का डर नहीं रहता ; क्योंकि नस के कट जाने पर भी दोनों सिरों को बाँध देने पर वह तुरन्त रुक जाता है ! हाँ, शल्य या तीर का घाव ज्यादा खतरनाक होता है ; क्योंकि उनका घाव इस प्रकार का होता है, जिसमें खून का रोकना मुश्किल होता है।”

“किन्तु भैया ! उस जंगल में कोई तुम्हारी दवा-दारू करनेवाला तो नहीं रहा होगा ?”

इतने-से घाव के लिये दवा-दारू की जरूरत ! और सुदत्त के सार्थ में शल्य-चिकित्सक, विप-चिकित्सक बराबर रहता है। वही एक जगह मातर ! बस, मार-काट की नौबत आई थी, नहीं तो बाकी यात्रा यहाँ तक की सकुशल बीती। मेरा सार्थ कल ही तक्षशिला पहुँचा। आचार्य महाली ने बतला दिया था; इसलिये मैं सीधे आचार्य के कुल में पहुँचा।”

“यह तुम्हारा घर है, पुत्र !”

×

×

×

×

×

(३)

तक्षशिला

तक्षशिला हमारी वैशाली की तरह ही मैदान में बसी एक महानगरी है ; किन्तु जहाँ हमारी वैशाली के पास कोई पहाड़ नहीं है, वहाँ तक्षशिला के सुदूर हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं । तक्षशिला के पास एक छोटी-सी नदी है; किन्तु उसमें पानी बारहों महीने रहता है । उत्तर की पहाड़ी को बाँधकर एक महान् जलाशय तैयार किया गया है, जो कि बहुत कुछ मगध की सुमागधा-जैसा है । इससे निकली नहरें नगर में अनेक शाखा होकर बहती हैं, जिसके किनारे लगे सरल वृक्ष बहुत ही सुन्दर मालूम होते हैं, और हेमन्त में जब हरियाली के लिये आँखें तरसती हैं, तो हिमवान के इस वृक्षराज की सहज हरियाली तक्षशिला के नर-नारियों की आँखों को आनन्द प्रदान करती है । नगर की सड़कों की एक ओर बहती सरल पंक्ति से मढ़ी तक्षशिला की यह नहरें अद्भुत हैं । नगर के अतिरिक्त नहरों से बगीचों और खेतों की सिंचाई का काम लिया जाता है । बल्कि, नगर के बाहर दूर तक फैले फलोद्यान भी तक्षशिला की एक मनोहारिणी विभूति हैं । इन उद्यानों में द्राक्षा, अक्षोढ, सेव, रक्तालु, उदुम्बर आदि नाना प्रकार के फल-वृक्ष लगे हुए हैं । गर्मियों में इन शीतल छायावाले वृक्षों के नीचे नहर के बहते अभिनील जल को देखते रहने में आँखें नहीं थकती । हमारे आचार्य के बहुत-से फलोद्यान हैं, जिनमें फलों के सुखाने तथा रखने के घर बने हुए हैं । वर्षा के आरंभ से शरद् के अन्त तक उद्यानों की ओर बहार रहती है । कहीं द्राक्षा-विटप हैं—लता की जगह यहाँ काट-छाँटकर छोटे-से विटप की सूरत में ही द्राक्षा को रखने का रवाज है । पहले अल्पहरित मकृत, फिर पुष्पराग के गुच्छों-जैसे इनके फल-गुच्छक बड़े मनोहर मालूम होते हैं ।

पद्मराग-जैसे लाल-लाल उदुम्बर [इंजीर] फल की शोभा अपनी निराह है। और, अक्षोट [अखरोट] के विशाल वृक्ष हमारे रीठे की भाँति पत्ते और शीतल छायावाले होते हैं। अक्षोट का काष्ठ कारुकार्य के लिये बहुत पसंद किया जाता है। फल के मौसिम में तक्षशिला के बागों का द्वार हर पान्थ के लिये खुला रहता है। चाहे वह जितने फल वृक्ष से तोड़कर खा ले--हाँ, बाँध के ले जाना ठीक नहीं समझा जाता।

बागों के बाद दूर-दूर तक तक्षशिला के नागरिकों के कर्मान्त [खेतियाँ] हैं। हमारे आचार्य के कई कर्मान्त हैं। जाड़े के दिनों में यहाँ श्मशान की-सी शून्यता दिखाई पड़ती है। खेत खाली पड़े रहते हैं, और सिर्फ कर्मान्तघरों में कुछ बैल-गाय तथा कर्मकर दिन बिताते दिखाई पड़ते हैं। किन्तु, वसन्त के आते ही चारो ओर जीवन छा जाता है। सद्यः गलित हिम से आर्द्र भूमि पर सैकड़ों हल चलने लगते हैं; और हलवाहों के मधुर गान तथा बीच-बीच में 'टू-टू' के शब्द से सारी प्रान्तभूमि मुखरित हो उठती है। इस जुताई-चुनाई के समय आचार्य के साथ हम सारे विद्यार्थी कर्मान्तों में चले जाते, और हल जोतने, घास अलग करने, बुनने के काम में मदद देते थे। वैशाली में खेती के काम में मैं नाम कमाए हुए था, और उस नाम को मैंने यहाँ भी सुरक्षित रखा। मुझे अपनी ओर के हलपर के गीत बहुत याद थे। किन्तु, तक्षशिला की भाषा की भाँति गीतों में भी कितना ही अन्तर है; इसलिये हँसी के डर से मैं उन गीतों को तो नहीं गा सकता था। किन्तु, अपने साथी हलवाहों की लय को पकड़कर गुनगुनाता जरूर था; और दूसरे साल तो मैंने इधर के कितने ही गीत भी याद कर डाले।

दोपहर को हल छोड़कर हम नये पत्तोंवाले वृक्ष के नीचे जरा-सा विश्राम कर बीच-बीच में पुष्करिणी के रूप में परिणत नहर में नहाने जाते। यह नहाने का ही समय नहीं था; बल्कि इस वक्त हमारे शरीरों के गुण-दोष पर आचार्य अपनी सम्मति देते थे। जिस वक्त सारे कपड़े को छोड़

सभी नर-नारी तट की उच्च भूमि से हरित जल में कूद-कूदकर जल-क्रीड़ा करते, उस वक्त आचार्य कहते—“रोहिणी ! तेरे पार्श्व में मेद [चर्बी] जम रहा है ।” “सुमेध ! तेरी पेंडुलियाँ पेशी-शून्य मालूम होती हैं ।” “अनुरुद्ध ! नितम्ब पर इतने मांस का बोझ क्यों दो रहे हो ?” “सिंह ! सबसे सुडौल तेरा शरीर है । यहाँ चर्बी का नाम नहीं मालूम होता, सारा शरीर पेशी, रग, पुष्टो से बना मालूम होता है—काम-चोर होने का दंड है मेद [चर्बी]-वृद्धि ।” “सरस्वती तो भैंस बनती जा रही है । देखो इसका पेट, जान पड़ता है निरन्तर गर्भिणी है ।” “सरस्वती ! तुम थोड़ा घोड़-दौड़ किया करो । यहाँ कर्मान्त में तो घोड़े हैं ।”

हम घंटों जल में तैरते, कूदते, एक दूसरे पर पानी उछालते या पकड़ते उस ग्रीष्म की दोपहरी को बिता देते थे । फिर दधि, मधु, सत्तू का घोल पीते । ग्रीष्म में मध्याह्न भोजन कम ही खाया जाता ; किन्तु शाम को मौज रहती, उस वक्त काम भी कुछ थोड़े घड़ी का ही रहता । फिर सूर्यास्त होने के साथ कर्मान्त-घर के बाहर लिपी-पुती भूमि पर हम बैठ जाते । पहले निधूम आग पर भुने मधुर गो-मांस के टुकड़े और सुरा-कुतुप सामने आते । हम बीच-बीच में मांस के टुकड़ों को मुँह में डालते काष्ठ चपकों से सुरा को स्वयं पीते तथा पासवालों को पिलाते । फिर जब नेत्र थोड़े-थोड़े रक्त हो जाते, तो गीत शुरू होते, और अन्त में लास्य । आचार्य-पत्नी अब पचास वर्ष को पहुँच रही थीं ; किन्तु उनका नृत्य-कौशल देखकर आश्चर्य होता था । हमारे-जैसे दो-दो जवान पसीने-पसीने हो जाते, किन्तु मजाल है उनका पद, भुज, गात्र-विज्ञेय जरा भी ताल से दूर हटता, अथवा उनमें किसी तरह की शिथिलता आती ।

आचार्य बहुलाश्व ने स्वयं बुनाई समाप्ति के महोत्सव के दिन अपने नृत्य की निपुणता को दिखलाया था । जान पड़ता था, शरीर की एक-एक पेशी पर उनका अधिकार है । नृत्य को आचार्य व्यायाम का राजा कहते हैं । ‘यह जन्म से मृत्यु तक व्यायाम है ।’ अबोध बच्चा पालने पर

पड़ा-पड़ा अपने सारे अवयवों को चलाता है, और चर्बी को गला-गलाकर पेशी के रूप में परिणत करता है। बोध होने पर यही नृत्य है, जो कि उसके शरीर के जीवट को कायम रख सकता है। कुदाल, कुल्हाड़ा चलाने से कुछ पेशियों को पुष्टि मिलती है। चलने-दौड़ने से पैर दृढ़ और मुडौल होते हैं। मल्ल और मुष्टि-युद्ध से कितने ही शरीर के अवयव सराक्त होते हैं। किन्तु, यह नृत्य है, जिसे ठीक तरह से करने से सारे शरीर की एक-एक पेशी पुष्ट होती है; चर्बी उसी तरह पिघल जाती है, जिस तरह घाम में हिम। और साथ ही बाकी सारे शरीर के श्रमों से दिल ऊब जाता है; उन्हें करने के लिये मन पर जबर्दस्ती करनी पड़ती है; किन्तु, नृत्य ऐसा व्यायाम है, जिससे दिल नहीं ऊबता। इससे जहाँ शरीर के प्रत्येक अवयव को पुष्टि मिलती है, वहाँ मन की सारी थकावट दूर हो जाती है।—दिन भर के श्रम के बाद शाम को कुछ प्याले के साथ यह नृत्य दूसरे दिन के लिये शक्ति संचित कर देता है। नृत्य मनुष्य के लिये भारी नियामत है। सरस्वती जो भैस होती जा रही है, इसका एक कारण उसकी नृत्य से विरक्ति है।”

बुनाई समाप्त हो जाने का उत्सव हमारी वैशाली में भी होता है; किन्तु यहाँ वह और उत्साह के साथ मनाया जाता है। उस दिन वत्सतर, गव्य, भेड़ और सूअर के कई तरह से तैयार किये मांस बनाये जाते हैं। घी के मीठे-फीके अपूप [पूड़े, पूड़ी], सुगन्धित चावल की निर्जल खीर, आठ घंटे से आग पर पकती हड्डियाँ [गोड़ी] तथा मांस का स्वादिष्ट सूप एवं कितनी ही तरह के व्यंजन बनते हैं। उस दिन आचार्य के सभी कर्मान्तों के कर्मकर तथा सहायक नगर के पासवाले बड़े कर्मान्त-घर पर आ जाते हैं। उस दिन वे ग्रीष्म के नये कपड़े पहने होते हैं। सूर्यास्त से पहले ही से पान और गान शुरू होते हैं। उस दिन आचार्य के मद्यकोश के पुराने से पुराने सुराभांड तथा कितने ही कापिशेयी कुतुप भी लाये जाते हैं। आचार्य, तथा सारे कर्मकर-परिवार का

उस वक्त सहभोज होता है। सारी रात नृत्य-गान में बीतती है।

कर्मन्तों और उद्यानों की सम्पत्ति के अतिरिक्त वाणिज्य तक्षशिला के नागरिकों की आजीविका का बड़ा साधन है। स्थल-मार्ग से प्राची [पूर्व भारत] की वस्तुओं को पार्श्वों, ववेस्त्रों और यवनों के देशों में पहुँचाने में सहायता पहुँचाना तक्षशिला के स्थल-सार्थों का मुख्य काम है। तक्षशिला यदि श्रावस्ती, राजगृह, कौशाम्बी तथा उज्जयिनी से भी अधिक समृद्ध है, तो उसका प्रधान कारण यही व्यवसाय है। श्रावस्ती और कौशाम्बी में भी राजा, राजकुमारों, अमात्यो, श्रेष्ठियों, सार्थवाहों के भव्य प्रासाद हैं, जिनके भीतरी ऐश्वर्य की तुलना तक्षशिला के सीधे-सादे नागरिक भवनों से नहीं हो सकती : किन्तु, तक्षशिला में एक बात मिलती है, जो उन राजधानियों में नहीं है। यहाँ भूखे-नंगे-भिखमंगे नहीं मिलेंगे। यहाँ के नागरिक इसे भारी कलंक की बात मानते हैं। वह हर एक समर्थ व्यक्ति को काम या जीविका का साधन ढूँढ़ देना अपना कर्तव्य समझते हैं। दास यहाँ नहीं हैं, कर्मकर [नौकर] नर-नारी जरूर हैं; किन्तु स्वामी उन्हें अपने समान मनुष्य समझते तथा उनके साथ वैसा ही बर्ताव करते हैं। उनको अधिक भोजन-वेतन देते तथा आमोद-प्रमोद में सहभागी बनाते हैं। इन कर्मकरों में जो तक्षशिला के नागरिक हैं, और किसी विपत् के कारण भृत्य बनने के लिये मजबूर होते हैं, उन्हें तो कर्मकर कहना ही नहीं चाहिये; वह तो परिवार के एक व्यक्ति के तौरपर खान-पान, वसन-निवास में समानता रखते हैं। तक्षशिला प्रजातंत्र के बाहर से आये कर्मकरों के बारे में आचार्य बहुलाश्व का कहना था—
“हमारा गण रुधिर-संबंध पर आधारित है ; इसलिए अपने से बाहर के व्यक्ति को नागरिक बनाना हमारे वश से बाहर की बात है। किन्तु, मनुष्य और आर्य होने के नाते हमें उनके साथ ऐसा बर्ताव करना चाहिये, जिसमें वे अपने को अजनबी न समझें।”

×

×

×

×

×

(४)

उप-अध्यापक

तक्षशिला में चार वर्ष हो गये । अब तक क्या क्या पढ़ा-सीखा, यह बतला चुका हूँ ! अब मेरे लिये तक्षशिला पहिले-सी कोई अद्भुत अपरिचित अनोखी नगरी नहीं रह गई ; यद्यपि वैशाली के बाद उनके प्रति जो प्रेम पहले-पहल अंकुरित हुआ था, अब वह और बढ़कर हृदय में स्थायी स्थान ग्रहण कर चुका था । मैं अब भेष, भाषा में भी तक्षशिलीय बन चुका था । जाड़ा में वैसा ही सुत्थन, चर्मकंचुक पहनना, वैसे ही अपने लंबे केशों का जूट बाँध नर्म चमड़े के कनटोप से ढाँक रखता । सबसे प्रसन्नता की बात यह थी कि मैं आचार्य के विद्यार्थियों में सबसे शीघ्र-ग्राही तथा उनका प्रेम-पात्र था । मैं अब आचार्य के निम्न वर्ग के शिष्यों का अध्यापक था । रह-रहकर वैशाली की अम्मा, सोमा की स्मृति आती न हो, यह बात न थी ; तो भी तक्षशिला में भी आचार्य, अम्मा और रोहिणी के मधुर स्नेह में मैं इतना बैँधा हुआ था, कि कही जाने पर उनके लिये ठंढी साँस लिये बिना रहना संभव न होता । वैशाली का समाचार इतने दिनों में सिर्फ एक बार मिला । अम्मा ने किसी सार्थ से अनुनय-विनय करके एक तालपत्रिका सुदत्त के आदमी को दे दी थी, और सुदत्त के सार्थ के साथ वह यहाँ पहुँची थी । मैंने प्रायः हर साल लौटते सार्थ के हाथ से पत्र भेजे ; किन्तु उनमें से बहुत कम माँ के पास पहुँचे । यदि साकेत या श्रावस्ती में माँ होती, तो पत्र पहुँचने में शायद अधिक आसानी होती । हाँ, प्राची का समाचार हर साल सुदत्त के सार्थों द्वारा मिल जाता था ।

खेतों में सुनहली कनक [गेहूँ] कटने को तैयार थी । मुझे आचार्य ने एक कर्मान्त की कटाई-मिसाई का काम सौंपा था । यह आचार्य का

सबसे बड़ा कर्मान्त था, और इसके खेत कर्मान्त-घर से दूर-दूर तक फैले हुए थे। कमकरों के अतिरिक्त कितने ही विद्यार्थी तथा रोहिणी भी यहीं आई थी। शाम को हमलोग कर्मान्त-घर पर चले आते। सबेरे अँधेरा रहते ही कुछ प्रातराश कर चर्मकुप्पे में छाछ भर पीठ पर डाल घोंड़े पर सवार हो, मैं खेत में चला जाता। कटे खेतों में छूटे हुए हरे तृणों को चरने के लिये घोड़े को छोड़ देता; फिर हसिया ले खेत काटने के लिये जुट पड़ता। खेत काटते वक्त स्त्री-पुरुष अलग-अलग टोली में गीत गाते तथा दुहराते थे। हम पुरुष-स्त्रियों के कंठ का अनुकरण करते; किन्तु वह स्वाभाविक मधुरता कहाँ से आ सकती थी? हाँ, इसमें काम और उसका श्रम मालूम नहीं होता था। भोजन का प्रबंध रोहिणी के जिम्मे था। वह दोपहर को एक कुप्पे में घोड़ी के दूध का मेरय [कच्ची शराव] पीठ पर लादे, एक शकटिका [छोटी गाड़ी] पर खाद्य और जल को रखे, हमारे पास पहुँचती। एक वृक्ष के नीचे हम जमा हो जाते, और वहीं हँसी-मजाक करते अपना मध्याह्न-भोजन समाप्त करते। रोहिणी सूपकारों [रसोइयों] का घर भेजकर हमारे काम में हाथ बँटाने के लिये रह जाती। हम दोपहर की धूप के कारण कुछ देर तक विश्राम करते। कभी हरे गेहूँ को भूनते, कभी हरे कलाय या कनक के फल-पत्तेवाले डंठलों से अपनी सहेलियों के सुनहरे, लाल या भूरे केशों को सजाते, कभी कोई मनोरंजक कथा कहते या सो जाते थे।

सूर्य के ढल जाने पर फिर हम हँसिया सँभाल लेते। रोहिणी हँसिया चलाने में भी दक्ष थी, और गला तो उसका हिमवन्त के कलविक पत्नी-जैसा मधुर था। हमारा मन उसके सुरीले गाने को उस कड़ी धूप के लिये शीतल छाया समझता था। सूर्य की किरणों के पांडुर बन जाने पर हम कभी-कभी क्षेत्र-नृत्य करते। तरुण-तरुणियों के सिरों पर फलदार हरी लता के बने भूषण होते। बीच में थोड़ी-सी बिना कटी कनक कं रख, बायें हाथ में सुनहरे वालों के गुच्छक तथा दाहिने हाथ में हँसिया

ले हम पहले एक गीत गाते, इसके बाद दो टोलियों में बँटे तरुण-तरुणी उस खड़े गोहूँ के गिर्द नाचते । सूखने पर रोहिणी के लाये मेरय से कंठ को तर करते, जिससे आँखों में हलकी-सी लाली भी छिटक जाती । उधर सूर्य अस्ताचल को जाते, इधर हम भी कर्मान्त-घर पहुँचते । जाड़ों का अन्त नहीं, यह ग्रीष्म का अन्त था; इसलिये घास-चारे की अधिकता के कारण पशु पुष्ट और पीवर होते थे । शाम को हमारे भोजन का प्रधान भाग मांस होता, जिसके लिये कभी कोई बहिला गाय मारी जाती, कभी पट्टा सूअर या मोटी भेड़ । कर्मान्त-घर में आते ही हम पहले नहर में जा स्नान कर शरीर के धूल-गर्द को साफ करते । फिर धुले अन्तर्वासक [धोती] और उत्तरीय [चदर] को पहिनते । गर्मियों में तक्षशिलावाले भी वैसा ही वस्त्र पहनते हैं, जैसे वैशालीवाले । स्त्रियाँ उत्तरीय, अन्तर्वासक के अतिरिक्त छोटे कंचुक पहनती हैं । हमारे यहाँ से वहाँ की स्त्रियाँ आभूषण कम पहनती हैं । माला—एक, दो या तीन-लट्ठी—और कर्णभूषण, वस यही उनका भूषण होता है । धातु के भूषणों की जगह वे लता, पत्र, फूल के भूषणों को बहुत पसंद करती हैं । वस्तुतः, गंधारियाँ [तक्षशिलावाली] और माद्रियाँ [स्थालकोटवाली] इतनी स्वभाव-सुंदरी होती हैं कि उनसे भूषण शोभित होता है, भूषण से वे शोभित नहीं होतीं । गर्मी में चमड़े की जुराब नहीं होती; किन्तु जूता पहनने का रवाज यहाँ के स्त्री-पुरुषों में प्राचीन से अधिक है ।

पहले हम डाँठ को काटकर खेत में एक दिन के लिये छोड़ देते; फिर उन्हें बाँधकर कर्मान्त-घर के पास तैयार किये विस्तृत खल [खलियान] में ला रखते । सारे खेतों के कट जाने पर हमारी कर्म-तथा क्रीड़ा-भूमि यही खलिहान होता । यहीं हम बैलों से अनाज की देवाई करते, और यहीं शाम को कनक-राशि उठ जाने पर पान और नृत्य करते । अहो सुनहली कनक-राशि देखने में कितनी सुंदर मालूम होती है ! अपने श्रम से मिट्टी को इस रूप में बदले देखकर

मनुष्य को कितना आनंद आता है ! बुनाई के वक्त से भी फसल कटने का वक्त हमें अधिक आनन्दमय मालूम होता था । इसीलिये, कोई आश्चर्य नहीं, यदि सभी कंटों में मधुर गुनगुनाहट, और जरा-सी आहट पर शरीर का नृत्य-मुद्रा में परिवर्तन हो जाये ।

खेतों को काटते वक्त बरसात के आ धमकने का डर रहता है । यद्यपि वर्षा यहाँ कम होती है, तो भी खेत-खलियान में पड़े धान्य को वह नुकसान तो पहुँचा सकती है; इसलिये फसल के समेटने की जल्दी पड़ी रहती है । खलियान जब भुस और अनाज से खाली हो जाता है, तो फिर एक बार सहभोज होता है, जिसमें सभी कर्मान्तों के नर-नारी शामिल होते हैं । अब की साल मेरे कर्मान्त का खलिहान सबसे पहले उठा था, जिसके लिये आचार्य ने मुझे और मेरे सह-कर्मियों को साधुवाद दिया ।

यह कह चुका हूँ कि चौथे वर्ष में पहुँचते-पहुँचते मैं आधा विद्यार्थी और आधा अध्यापक हो गया । आचार्य के शिष्यों की संख्या पाँच सौ कही जाती है; किन्तु यह पाँच सौ वह विद्यार्थी हैं, जो कि उच्च कक्षा के हैं, और जिनमें काफी संख्या तक्षशिला से दूर-दूर के विद्यार्थियों की है । आजकल प्राची के विद्यार्थी कम हैं, और जो हैं भी, उनमें मगध के शुल्क-अन्तेवासी ज्यादा हैं । आचार्य इसे शुभ लक्षण नहीं बतलाते । वह कहते थे—

“तात सिंह ! इससे जान पड़ता है, प्राची में मगध ही है, जो कि युद्ध-विद्या के महत्त्व को समझता है । वैशाली, कुसीनारा, कपिलवस्तु, पावा, अनूपिया, देवदह, किसी भी गण-तंत्र का तुम्हारे सिवाय कोई विद्यार्थी न होना बतलाता है कि वह युद्ध-विद्या को सिन्धु (नदी) न मान, प्रवाहहीन पुष्करिणी समझ रहे हैं । वत्स ! मैं तक्षशिला की झूठी प्रशंसा करने के लिये नहीं कहता, यह साफ है । इस वक्त जो तक्षशिला के ज्ञान-स्रोत से अपने को वंचित रखेगा, वह युद्ध-विद्या में तो अवश्य अपने को पिछड़ा हुआ बनायेगा । महाली युद्ध-विद्या का पंडित

है। पतित बंधुल मल्ल की विद्वत्ता में हम सन्देह नहीं करते; किंतु उनकी विद्याएँ पचीस वर्ष पहले की हैं। वैशाली और श्रावस्ती में बैठकर वे नहीं जान सकते कि पार्श्वो ने बल-संचालन का इधर कौन-सा नया तरीका निकाला है? व्यूह-भेदन के कौन-से नये ढंग निकाले हैं? धनुष-क्षेपण की शक्ति को बढ़ाने के लिये उसमें क्या सुधार किये हैं? ईंट-पत्थर के दुर्ग को तोड़ने के लिये कौन-से नये हथियार बनाये हैं? ये बातें तक्षशिला ही में मालूम हो सकती हैं। हम पार्श्वो और यवनो से नजदीक का संबंध ही नहीं रखते; बल्कि हम उनके भीतरी रहस्य को खोज निकालने में भिन्न-हस्त हैं। हमारी युद्ध-विद्या सिन्धु की धारा है, जिसका प्रवाह कभी शून्य नहीं होता, जिसमें सदा नये-नये ज्ञान-जल सम्मिलित होते रहते हैं। अफ़मोस है, प्राची में यदि इसका ख्याल किसीको है, तो मगध को है। मगध इस ज्ञान को बड़ी तत्परता से अर्जित कर रहा है। मैं नहीं समझता, यहाँ आये मगध-विद्यार्थी जो शुल्क सुभे प्रदान कर रहे हैं, वह अपने घर से लेकर दे रहे हैं।

“नहीं आचार्य ! उन्हें सब कुछ राज-कोश से मिलता है। मगध-राज बिबिसार होनहार तरुणों को चुन-चुनकर तक्षशिला भेज रहा है।”

“मैं भी वत्स ! यह सन्देह कर रहा था। कभी इतनी संख्या में मगध कुमार यहाँ पढ़ने नहीं आते थे। मेरी भी उम्र चौंसठ वर्ष की हो गई है। मैं समझता हूँ, मगध प्राची की स्वतंत्रता का शत्रु तैयार हो रहा है। वह एक दिन वहाँ के गणों को आस कर लेगा ; वहाँ की छोटी-बड़ी रजुल्लियों को उदरशात् कर जायगा। मगध का रजुल्ला प्राची का पार्श्व शासानुशास होगा—आज नहीं, दस वर्ष बाद पचास वर्ष बाद; यदि उसकी ज्ञान-पिपासा इसी तरह अतृप्त रही।”

“तो यह हमारे लिये संकट की बात होगी ?”

“इसमें क्या शक ?”

“किन्तु आचार्य ! हम अकेले लिच्छवि मगध के लिये काफी हैं।

पाँच लिच्छविकुमार इस साल यहाँ पहुँचनेवाले हैं। हम लिच्छवि अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त नहीं होने देंगे; वैशाली और तक्षशिला का समागम कभी बंद नहीं होगा।”

“साधु वत्स ! साधु, हम भी यही चाहते हैं। प्राची में जिसके साथ हमारा अपनापन है, वह वैशाली है। और, हम यह भी मानते हैं कि लिच्छवि मगध को नतमस्तक करने के लिये पर्याप्त हैं। किन्तु, तुम्हीं ने बतलाया कि अंग को मगध ने अपने भीतर पचा लिया। इसका अर्थ है, अंग का जन-धन-बल उसके हाथ में चला गया। कोसल में बुढ़ापा आ गया मालूम होता है, नहीं तो काशी तथा कोसल-जैसे अपार जन-धन-वाले राज्य को पाकर मल्ल, शाक्य आदि गणों की परवशता से लाभ उठा, वह वैशाली की स्वतंत्रता को संकट में डाल सकता था। मगध में बुढ़ापे का लक्षण नहीं मालूम होता। विंविसार चतुर शासक जान पड़ता है। यदि उसका पुत्र भी पिता-जैसा निकला, तो वैशाली को बहुत सजग रहने की जरूरत होगी।”

“विंविसार का पुत्र कुमार अजातशत्रु, मैं जानता हूँ, आचार्य ! बहुत चतुर तरुण है। उसकी माँ हमारे ही विदेह देश की है। उसको मैंने देखा है। वह आचार्य महाली के विद्यालय में आया था। उसको बहुत इच्छा थी तक्षशिला आने की; किन्तु माता-पिता ने इसकी आज्ञा न दी। तक्षशिला से पढ़कर गये जीवक से उसका बड़ा सौहार्द है।”

“जीवक ! यहाँ से पढ़कर गया ?”

“हाँ, किन्तु वह वैद्य है आचार्य ! आजकल प्राची में उसकी बड़ी ख्याति है। मगध, कोसल ही नहीं, उज्जयिनी तक उसकी माँग है। हाँ, वह सिर्फ वैद्य है, योद्धा नहीं।”

“किन्तु, वैद्य और योद्धा दोनों मिलकर युद्ध जीतते हैं, पुत्र ! सिद्ध-हस्त शल्य-चिकित्सक हजारों घायलों की जान ही नहीं बचाता, बल्कि

वह कूट-युद्ध में भारी सहायक हो सकता है, वह सेना-की-सेना को सुला सकता है।”

“और जीवक इस बात में बहुत होशियार है, आचार्य ! अवन्तिराज प्रद्योत की चिकित्सा करने अभी हाल ही में वह वहाँ गया था। किसी कारण राजा उससे नाराज हो गया, और जीवक को भागकर जान बचाने की नौबत आई। प्रद्योत के एक दूत ने उसे रास्ते में जा पकड़ा। उस वक्त जीवक पानी पीने के लिये आँवले खा रहा था। उन्हीं में से दो उसने राजदूत को भी दिये। राजदूत ने समझा, अपने ही खाने के आँवलों में से दे रहा है, खाने में क्या हर्ज ? किन्तु, उन्हीं आँवलों को खा वह तीन दिन तक बेहोश रहा।”

“तो पुत्र ! तुम खुद जानते हो, जीवक युद्ध में कितना सहायक हो सकता है। चाहे जो भी हो, मुझे विश्वास है, मगध की शक्ति यदि आज जितनी ही रही, तो लिच्छवियों का वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता; किन्तु खतरा तब बढ़ेगा, जब कि वह और राज्यों को अपने हाथ में करने में सफल होगा, और इसके लिये पास में लड़खड़ाता कोसल है। और, फिर तक्षशिला से पढ़कर जानेवाले यह मगध के भावी सेनापति।”

“लेकिन आचार्य ! आप तो उन्हें सभी रहस्य नहीं सिखलाते ?”

“यह ठीक है, किन्तु तब भी उन्हें बहुत कुछ सीखने को मिलता तो है। और रहस्य ? उनमें से कितनों ही को तो चतुर आदमी तक्षशिला की हवा से प्राप्त कर सकता है। मगध भारी खतरा है। वह प्राची का पार्श्व है। तुमने देखा होगा, पश्चिम गंधार के पुरुषों को। हमारे पूर्व गंधार [तक्षशिला] और इस पश्चिमगंधार के बीच सिर्फ महासिंधु का अन्तर है। वह हम से कम बहादुर और बुद्धिमान नहीं हैं; किन्तु कुरु, दारयु की अपार सेना के सामने अन्त में उन्हें सफलता नहीं मिली। आज तक्षशिला पर भी दारयु के क्षत्रप का शासन होता, यदि उसे युद्धक्षेत्र में अकेला रहना पड़ा होता। हमारा सौभाग्य है कि उत्तरापथ [पंजाब]

के हमारे सारे गण दारयु के विरुद्ध एक हो गये हैं। लेकिन, इस एकता को मैं पर्याप्त नहीं समझता। हमारी एकता सहानुभूति की एकता है। मद्र तक्षशिला के लिये उसी तरह नहीं लड़ सकते, जिस तरह मद्र के लिये। मद्रों का सागल पर जैसा प्रेम है, वैसा तक्षशिला के लिये नहीं हो सकता, यह हमें मानना पड़ेगा। उधर पार्श्व दारयु के लिये उसके अधीन जनपद रथ में जुते घोड़ों की भाँति रश्मि के संकेतमात्र पर आगे बढ़ने के लिये तैयार हैं।”

“यह भय मुझे भी कभी-कभी आचार्य ! विचलित कर देता है।”

“किन्तु पुत्र ! मुझे अभी इससे बचने का कोई उपाय नहीं सूझता। उपाय है; किन्तु उसे हम स्वीकार नहीं कर सकते—उत्तरापथ [पंजाब] के सभी गणों को मिलाकर एक संघ, एक शासन बनाना यदि संभव भी हो; तो भी उसमें हमें अपने गण-स्वातंत्र्य, गण-मर्यादा, रुधिर-बंधुत्व को छोड़ना पड़ेगा। इसके लिए हमारे गण का कोई बच्चा तैयार नहीं हो सकता। सहानुभूति, समान संकट के कारण भी जो एकता हमारे गणों में इस वक्त है, वह जब तक मौजूद है तब तक हम पार्श्वों को महामिन्धु के इस पार नहीं आने देंगे।”

×

×

×



(५)

रोहिणी

अब मैं २४ साल का था और रोहिणी १६ साल की। रोहिणी का कन्या-मुलभ-स्नेह किस समय तरुण-तरुणी के प्रेम में परिवर्तित हो गया, इसका दिन-मुहूर्त्त बतलाना कठिन है। हाँ, एक घटना आज से साल भर पहले की याद है। उस वक्त मैं बहुत बीमार पड़ गया था। जब ज्वर सप्ताह से आगे भी वैसे ही चला और वैद्य की औषधि का कोई लाभ नहीं हुआ, तो आचार्य का हृदय कुछ शंकित हो उठा। उन्हें बराबर मेरे कमरे में आना पड़ता था। इसलिये, आचार्य के शयनगार के पास एक कमरा मेरे लिये खाली कर दिया गया और मुझे वहीं ला सुलाया गया। मैं बिल्कुल निर्बल हो गया था। सिर्फ जल और औषधि के सहारे जीवित था। अम्मा और आचार्य तो दिन में कई बार आते थे ; किन्तु रोहिणी को मैं तो नहीं जानता, किसी वक्त उसने मेरी चारपाई छोड़ी होगी। वह बगल में एक मंचिका पर बैठी पंखा झलती, दवा पिलाती या कपड़े ठीक करती रहती। मैं जब जाकर सो रहने की बात कहता, तो “अभी तो सोकर आई हूँ” कहकर टाल देती। मेरी स्मृति उस समय जिस अवस्था में थी—उसमें मैं उसे सच ही समझ लेता था। लेकिन, मैं यह देखता था कि रोहिणी के लाल अधर पीले पड़ गये हैं। एक दिन मैं चेतनाहीन हो गया। सोकर जगे की भाँति जब मैंने आँखें जरा-जरा खोलीं—देखा, रोहिणी के नेत्रों से आँसू गिर रहे हैं। मेरे लिये मुँह से आवाज भी निकालनी मुश्किल थी, तो भी मैंने कहा—“रोहिणी !” वह मुँह छिपाने लगी। मैंने कहा—“तुम रो रही हो बच्ची ! मैंने देख लिया।” उसने मुँह पोंछकर मेरी ओर ताका। उसकी आँखें सूजी हुई थीं। उसके नीले तारकों पर स्निग्ध जल की परत पड़ी हुई थी। मैंने हाथ को हिलाना

चाहा । उसने सिर को पास कर दिया । कितने ही दिनों से उसने केशों को धोया सजाया न था, तो भी उलझे होने पर भी वह कौषेयतन्तु की भाँति कोमल थे । मैंने उनमें अँगुलियों को चलाते हुए कहा—

“रोहिणी ! मैं अच्छा हूँ, तुम्हें चिन्ता न करनी चाहिये ।”

“हाँ, सिंह भैया ! तुम अच्छे हो ।”—उसने अपने कंठ-स्वर पर पूरा संयम करके कहा ।

“फिर तुम रोती क्यों हो ?”

वह जवाब न दे, मेरे ललाट पर हाथ फेरने लगी । वह शीतल और भले मालूम होते थे । उस दिन के बाद से सचमुच मेरा ज्वर कम होने लगा । धीरे-धीरे पथ्य दिया जाने लगा । अब रोहिणी सबमे अधिक प्रसन्न-मुख थी ।

साल बीत गये । अब मेरा शरीर फिर पहले-जैसा बलिष्ठ था । अँगूरों के पकने का समय था । रोहिणी और मैंने एक बाग का काम अपने ऊपर लिया था । वर्षा नहीं थी, किन्तु अभी भी ऋतु गर्म थी । मैंने हरी पत्तियों से युक्त एक द्राक्षालता से रोहिणी के केशों को सजाया; फिर उसमें द्राक्षा के हरे-पीले क्षुद्र गुच्छक लटका दिये । उसके कानों से एक-एक कापिशेयी द्राक्षा का दाना लटक रहा था । गले में उसी तरह अँगूरों की तिलड़ी माला पड़ी थी । मैंने कहा—“रोहिणी ! तुम्हारे अरुण मुखमंडल, तुम्हारे सुवर्ण केशों, तुम्हारे अस्फुट उरोजों पर, देखो तो यह द्राक्षा के आभूषण कितने सुन्दर मालूम होते हैं ।”

“नहीं, तुम तो ऐसे ही तारीफ करते हो”—कहने पर मैंने उसके दृढ़ हाथों को अपने कर्कश हाथों में ले लिया, और शनैः प्रवाहित स्निग्ध कुल्या की ओर ले चला । उसने चलने में आनाकानी नहीं की, सिर्फ उसके कपोलों में कुछ लाली उतर आई । कुल्या के तट पर बैठ, पानी की ओर झुककर मैंने कहा—“देखो रोहिणी ! तुम कितनी सुन्दरी हो ।”

उसने एक बार भाँका; किन्तु मुँह को मेरी छाया की ओर फेर-

कर कहा—“और तुम ? देखो हँसती आँखें कितनी सुन्दर हैं । तुम्हारे मुख के सामने मेरी सुन्दरता क्या है ?”

“नहीं गलत है, रोहिणी ! तुम मोहिनी हो ।”

“जाने दो ऐसा परिहास ।”

“परिहास ! आओ, हम दोनों अपना मुँह एक साथ पानी में प्रतिबिम्ब करें । किन्तु, देखना रोहिणी, न्याय करना ।”

उसने अपने दाहिने कपोल को मेरे बायें कपोल से लगाने में आपत्ति न की और इस प्रकार सटकर हमने अपने प्रतिबिम्ब को जल में छोड़ा । रोहिणी की अधखिली आँखों से झलकती नीली पुतलियाँ बड़ी मनोहर थीं । उसके लाल अधरों पर हँसी की रेखा उसके मुख-मडल की शोभा को और भी कई गुना बढ़ा रही थी । मैंने पूछा—

“बोलो रोहिणी ! सच-सच, तुम वनदेवी या देवांगना हो कि नहीं ?”

मैं देख रहा था, रोहिणी अपने नहीं, मेरे मुखबिम्ब को निहार रही है । उसने झट जल की ओर से मुँह को मेरी ओर फेरकर मेरी आँखों में अपनी आँखों को चुभाते हुए कहा—“नहीं, सिंह का यह मुख बड़ा सुन्दर है” और उष्ण श्वास से गर्म करते मेरे कपोल पर अपने ओठों को रख दिया । मैंने हटने का मौका बिना दिये दोनों हाथों से उसके सज्जित केशों को सँभाले वैसे ही रोक दिया । इस नीरव अवस्था में न जाने हम कितने युग तक रहे । तब हमें ख्याल आया, अभी हमें बीम टोकरी अंगूर तोड़ने हैं । मैंने हाथों को हटाकर कहा—

“रोहिणी ! अभी हमें आज का काम समाप्त करना है ।”

हम अपनी टोकरियाँ ले गुच्छों को काट-काटकर रखते, फिर शाम को उद्यान-घर की छत पर उत्तर-दक्खिन खड़ी दीवार के सैकड़ों झरोखानुमा छिद्रों पर सूखने के लिए उन्हें टाँगते थे । रोहिणी कुछ गुनगुना रही थी । मैंने गाने के लिये कहा—उसने इन्कार नहीं किया ।

.....मैंने कहा—“रोहिणी ! कितना अच्छा होता, यदि यह द्राक्षा की फसल समाप्त ही नहीं होती ।”

उसने कहा—“और सदा प्रभात रहता, न कभी मध्याह्न, संध्या या निशा होती ।”

“और तुम सदा पोड़शी पिंगला रहती ।”

“और तुम्हारी पढ़ाई समाप्त ही न होती ।”—कहते रोहिणी का मुख कुछ म्लान हो गया ।

“पढ़ाई न समाप्त होती क्यों रोहिणी !”

रोहिणी ने अपने कंपित स्वर से कहा—“क्या जाने, तुम वैशाली चले जाओ ।”

“और तुम्हारे बिना ? ऐसा नहीं होगा, रोहिणी !”—कह, मानो छिन जाने के भय से मैंने कसकर उसे अपनी छाती से लगा लिया ।

रात को सोते वक्त मेरे कानों में रोहिणी के शब्द “क्या जाने तुम वैशाली चले जाओ” गूँज रहे थे । रोहिणी का भय बिल्कुल निराधार न था । वैशाली के लिये ही आखिर मैं तक्षशिला आया । पूर्वजों की वैशाली के गौरव की रक्षा के लिये कौन-सी चीज थी, जिसे मैं उत्सर्ग नहीं कर सकता । मैंने अपने मन से पूछा—“यदि तुम्हें रोहिणी और वैशाली में से एक के वरण करने की नौबत आये, तो किसे स्वीकार करोगे ?” उस वक्त जो उत्तर मेरे मन में आया, उससे कलेजे में हजार सूइयाँ चुभाने-जैसी पीड़ा होने लगी । मुझे सचमुच वैशाली को वरण करना पड़ता । तो क्या मैं रोहिणी के सामने झूठा नहीं हूँ ? “नहीं, वैशाली का प्रेम प्रेम की सीमा के बाहर का प्रेम है—कह मैंने दिल को समझाने पर भी कहा—“मैं रोहिणी को वैशाली ले चलकर दोनों प्रेमों का निर्वाह कर सकता हूँ ।” लेकिन यह कोई उचित बात न थी । आखिर, रोहिणी को भी तक्षशिला—अपने माता-पिता की तक्षशिला—उतनी ही प्रिय है,

जितनी मुझे अपनी वैशाली। फिर आचार्य अपनी एकमात्र सन्तान रोहिणी के वियोग को कैसे वर्दाश्त करेंगे ?

उस रात मेरा मन बहुत विकल रहा। जान पड़ता था, मैं आग की लपटों में डाल दिया गया हूँ। नहीं मालूम किस वक्त निद्रा ने आकर मुझे उस दहकती भट्टी से निकाल अपनी शीतल गोद का सहारा दिया। सबेरे तड़के ही उठकर मैंने अपने केश-मुँह को अच्छी तरह धोया, और रोहिणी के सामने जाने से पहले रात के सारे असर को धो डालने की कोशिश की। किन्तु, उसकी असफलता का पता तब लगा, जब रोहिणी ने मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—“रात के स्वप्न अच्छे नहीं थे क्या !”

मेरा कलेजा सिहरने लगा। चेहरे के बदलते रंग को छिपाने के लिये मैंने उसकी आँखों पर अपनी आँखों को रख दिया, और पूरा प्रयत्न करने पर भी मुँह से निकल आया—“हाँ, किन्तु प्रिये रोहिणी ! स्वप्न तो दिल दुखाने के लिये आते ही हैं।”

“अच्छा, क्या स्वप्न देखा ?”

“सब याद नहीं।”

“जो और जितना याद हो, उतना ही बतलाओ प्रिय !”

“कोई विकराल राक्षस तुम्हें मुझसे छीन ले जाना चाहता था। मैं अपने खड्ग को कोप से निकालना चाहता था; किन्तु खड्ग निकल नहीं रहा था। इसपर खड्ग-कांश को फेंककर, मैं उस राक्षस पर दूट पड़ा, और उसकी दोनों भुजाओं को चीरकर जब तुम्हें धरती पर रख रहा था, उस वक्त उसने मुझपर प्रहार किया। प्रहार तो मैंने खाली जाने दिया, किन्तु मैंने देखा बेहोशी से तुम्हारा गात्र शिथिल होने लगा है।”

“नहीं, प्रेष्ठ ! ऐसे समय मुझे बेहोशी नहीं आ सकती”—कह रोहिणी ने मेरी भुजाओं को लपेटते हुए अपने बाहु के बल को दिखलाया।

“नहीं रोहिणी ! मैं स्वप्न की बात कर रहा हूँ। स्वप्न की बातें उल्टी हुआ करती हैं।”

“किन्तु, तुम्हारे चेहरे से मालूम होता था कि तुम स्वप्न नहीं, जाग्रत की बात कर रहे हो।”

“हाँ, मेरा हृदय आतंक-पीड़ित है, प्यारी रोहिणी ! मैं इसे स्वीकार करता हूँ। अनिष्ट की कल्पना भी भयदायक होती है।”

“तो प्रिय ! राज्ञस का तुमने क्या किया ?”

“मैंने अपने को बचाते हुए उसकी ठुड्डी में एक मुष्टिका मारी, वह जमीन पर आ गिरा, और मैं उसकी छाती पर बैठ गया।”

“वैसे ही, जैसे उस दिन तक्षशिला के सबसे बड़े मुष्टिक दत्त को तुमने दबाया था। ओह, सिंह ! उस दृश्य को देखकर मुझे कितना आनंद आया था ! अभिमान से मेरा मस्तक हिमवान्-जैसा ऊँचा हो गया था। मेरी सहेलियाँ मुझे साधुवाद देते नहीं थकती थीं; वह इसे मेरा वैयक्तिक विजय समझती थीं।”

“और तुम रोहिणी ?”

“मैं भी, तभी तो फूली नहीं समाती थी।”

“मैंने उस राज्ञस को परास्त करके छोड़ा; किन्तु उठकर देखता हूँ, तो तुम वहाँ नहीं हो। मेरे प्राण निकलने-से लगे। किन्तु, उसी समय नोंद खुल गई।”

“स्वप्न में तुम विश्वास करते हो प्रियतम !”

“नहीं, मैं विश्वास नहीं करता हूँ, रोहिणी !”

“ताता भी विश्वास नहीं करते; किन्तु मा करती हैं; स्वप्न का विपाक उलटा होता है, अच्छे का बुरा, बुरे का अच्छा।”

“यदि विश्वास करना होगा, तो अम्मा के विचार के अनुसार मैं विश्वास करूँगा, रोहिणी !”

“और.....

×

×

×

(६)

पार्श्वों के साथ युद्ध की तैयारी

पार्श्व शासक [शाह] यवन-विजय में जिस तरह अफसल रहा, उसके कारण पूर्व में भी उसे सीमा-विस्तार करने का उत्साह नहीं हुआ। शास आर्तक्षत्र ने फिर पूर्व में छेड़खानी करनी चाही। तक्षिला को यह भारी सुभीता था कि पड़ोसी राज्यों की गति-विधि का समाचार वहाँ आसानी से पहुँच जाता था। तक्षिला के साथ और व्यापारियों की पहुँच राजधानी पर्शुपुरी [पर्सपोली] के अन्तस्तम तक में थी। तक्षिला के वैद्य और युद्ध-विद्याध्यापकों की माँग पार्श्व दरबार में भी बहुत ज्यादा थी। इस प्रकार यह असंभव था कि पूर्व-गंधार के विरुद्ध की जानेवाली तैयारी छिपी रहती। फसलें कट चुकी थीं, वर्षा शुरू हो गयी थी, तक्षिला आये मेरा आठवाँ साल था, जब युद्ध की तैयारी की अफवाहें वहाँ पहुँचने लगीं। गण-संस्था की बैठकें प्रति दिन हुआ करतीं, और मैं आचार्य के चेहरे को उस वक्त सदा चिन्तित देखता था। एक दिन मैंने आचार्य से इसके बारे में पूछा, तो उन्होंने कहा—

“वत्स ! पूर्व-गंधार पर संकट के बादल मँड़राने लगे हैं। शास ने गंधार के क्षत्रप को हमारे खिलाफ युद्ध की तैयारी का आदेश दिया है।

“युद्ध की तैयारी ! तक्षिला पर आक्रमण !!”

“हाँ, और हमने तय कर लिया ; नागरिक-मात्र को आज से सबसे पहला कर्तव्य है, सैनिक-सेवा। हमें प्रसन्नता है कि उत्तरापथ [पंजाब] के सारे गण हमारी सहायता के लिये तैयार हैं। बृद्धापन के कारण सेनापति का काम तो मैं स्वीकार नहीं कर सकता था ; किन्तु सेना-नायकों की शिक्षा-दीक्षा का काम मेरे जिम्मे हुआ है।”

“और आचार्य ! मुझे आशा है, तक्षशिला के इस संग्राम को वैशाली अपना संग्राम बना सकती है !”

“जरूर, मैं कह चुका हूँ, वैशाली प्राची की तक्षशिला है; वह दोनों बहनें हैं।”

“तो आपके शिष्य सिंह को भी इस संग्राम में भाग लेने का अवसर मिलना चाहिये।”

“मैं समझता हूँ, कोई रुकावट नहीं होगी। मैं युद्ध-उद्वाहिका [कमीटी] से स्वीकृति माँगूँगा।”

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि उद्वाहिका ने मुझे एक सेनानी के तौर पर ही स्वीकार नहीं किया; बल्कि वैशाली के दूसरे पाँच तरुणों को भी नागरिक सेना में सम्मिलित होने का अधिकार दिया। नागरिकों के अतिरिक्त हजारों की संख्या में आगन्तुकों और कर्मकरों ने तक्षशिला के लिये लड़ने की इच्छा प्रकट की, और उन्हें अनुमति मिल गयी।

यों तो तक्षशिला के हर एक नागरिक के लिये युद्ध-विद्या का सीखना जरूरी है; किन्तु अब पार्श्व-जैसी महान् शक्ति से मुकाबिला करना था, इसलिये चारों ओर सैनिक-शिक्षा, व्यूह-रचना, झूठा आक्रमण आदि का ही अभिनय हो रहा था। तक्षशिला के नागरिकों में सबके पास अपने सेंधव घोड़े थे; अपने अपने हथियार थे। जिनके पास किसी वस्तु की कमी थी, उसका प्रबंध गण की ओर से होता था। सेना-नायक अपनी वाहिनियों को पक्की कर रहे थे, और उनकी विशेष शिक्षा का भार आचार्य बहुलाश्व-जैसे महान् युद्ध-विद्या-विशारद के ऊपर था। आचार्य ने मेरे लिये अपना कवच और सबसे अच्छा घोड़ा प्रदान किया। शस्त्रों में मेरे पास एक सींग का [शाङ्ग] धनुष, एक तूण, एक डेढ़ हाथ लम्बा सीधा खड्ग, एक शल्य [भाला], एक छुग तथा इनके अतिरिक्त भारी गदा थी।

हमें रोज-ब-रोज शत्रु की गति-विधि की खबर मिल रही थी। इसमें पश्चिम गंधार के हमारे भाई बड़े सहायक थे। उन्हें भी जबर्दस्ती शास की सेना में भरती होना पड़ रहा था; किन्तु हमें विश्वास था—और वैसा ही हुआ भी—कि वह अपना कर्तव्य पालन करेंगे।

वर्षा के समाप्त होते ही आक्रमण होगा, इसका हमें पता लग गया था; किन्तु इधर वर्षा कम होती है, और कहीं शत्रु अचानक हमला न कर दे, इसलिये हमारे सैनिकों की कुछ टोलियाँ घाटों और घाटियों की रक्षा के लिये भेज दी गई थीं। आचार्य ने मेरे लिये पुष्कलावर्ती से आनेवाले रास्ते के घाट [अटक] की रक्षा का भार सौंपा था। वहाँ रक्षक सैनिक मौजूद थे, मुझे आज्ञा मिलने पर वहाँ जाना था। इस वक्त तक्षशिला के पत्थर के प्राकार को दृढ़ कर दिया गया था, और नगर-द्वारों पर कड़ा पहरा था। यदि द्वार पर आप कुछ घड़ियों के लिये भी ठहरकर देखते, तो मालूम होता, कितने ही घोड़े दौड़ते हुए नगर में घुस रहे हैं, और कितने ही नगर से बाहर की ओर दौड़ रहे हैं। यह सभी आदेशवाहक अश्वारोही हैं।

आचार्य ने मुझसे एक दिन कहा—

“पुत्र सिंह ! अब की मुकाबिला सख्त होगा। शिवि, मौवीर, पख्त भलानस ही नहीं, वन्तु [आमू नदी] के उत्तर तथा पर्शुपुरी [पर्सेपोली] के पूरब के सारे जन-बल को शास तक्षशिला के विध्वंस के लिए तैयार कर रहा है। हम भी अकेले नहीं हैं, मल्ल, मद्र...सभी गण जबर्दस्त तैयारी कर रहे हैं, और महासिन्धु के अपने निर्दिष्ट घाटों पर उनके कितने ही सैनिक अभी ही पहुँच गये हैं। युद्ध में आक्रमणकारी अधिक लाभ में रहता है; किन्तु हमारे लिए वह यहाँ अनुकूल नहीं होगा; क्योंकि महासिन्धु हमारे हरावल को पीछे संबंध जोड़ने में भारी बाधक होगी। खैरियत यही है, कि शत्रुसेना जहाँ चाहे वहाँ सिन्धु को पार नहीं कर सकती, इसलिए उसे हमारे आरक्षित—गोपित—घाटों से ही नदी को पार करना होगा,

और इसमें वह अपने संख्याबल से पूरा लाभ नहीं उठा सकेगा ।”

पहले-पहल जब मैं कवच पहन शिरस्त्राण, खड्ग, गदा, शार्ङ्ग, तूण धारण कर खड़ा हुआ, उस वक्त रोहिणी मेरे कमरे में थी । उसने इस सज्जा में देख मुझे गाढालिंगन किया । मैंने कहा—“प्रिये ! इस कठोर लोह के स्पर्श से तुम्हें कष्ट होगा ।”

“कष्ट, मुझे होगा ! नहीं मेरे सिंह ! हम तक्षशिलीय तरुणियाँ भी अपने को तैयार कर रही हैं । जैसे तक्षशिला के बालक को पहले-पहल मधु खड्ग की नोक पर चाटने को मिलती है, उसी तरह बालिका को भी तक्षशिला के नर-नारी समान रूप से आयुध-सेवी बनाते हैं ।”

मैंने शिरस्त्राण को हटा दिया और रोहिणी के कंधों पर दोनों हाथों को रख कर कहा—

“मेरी प्यारी रोहिणी ! इस बात में तक्षशिला की नारियाँ वैशाली से बड़ी हुई हैं ।”

“क्या लिच्छवियानियाँ गांधारियों की भाँति समर-भूमि में नहीं जा सकती ?”

“जा सकती की बात नहीं है । कितनी ही वैशालिकाओं ने पूर्व में सेना-संचालन, दुर्ग-गोपन किया है । किन्तु, यह जरूर है कि वहाँ की सभी लिच्छवियानियाँ इसके योग्य नहीं बनाई जाती ।”

“नहीं बनाई जाती ! क्यों प्रिय ?”

“इसमें और भी कारण हो सकते हैं । किन्तु मुझे तो दास-दामियों तथा अनायों का वैशाली में बाहुल्य प्रधान कारण मालूम होता है । तक्षशिला के सीधे-सादे जीवन को देखकर पहले ही दिन से मैं बहुत प्रभावित हुआ । हमारे आचार्य जैसे कर्मान्त, पशु, वाणिज्य के स्वामी वैशाली में इस तरह अपने दास-दामियों के साथ सह-भोज सह-नृत्य न करते । वहाँ से स्वाभाविक सादगी, स्वाभाविक कठोर जीवन मिट चुका है । हाँ, सैनिक-जीवन की अनिवार्य आवश्यकता होने के कारण

नागरिकों को कठोर जीवन बिताने के लिये मजबूर होना पड़ता है ।”

“प्रिय सिंह ! मैंने अनार्य लोगों को कभी-कभी यहाँ अपने घर में भी आये देखा है । एक बार इन्द्रप्रस्थ से लौटे हमारे सार्थ के साथ चार काले लोग आये थे । ताता ने उन्हें अपने साथ बैठाकर कापिशेयी सुरा तथा कोमल वत्सतर-मांस से संतृप्त किया था । यह तुम्हारे आने से एक साल पहले की बात है । मेरे पूछने पर ताता ने बतलाया था कि यह गंधार, मद्र,***सभी पहले इन्हीं लोगों के थे । हमारे पूर्वज जब पश्चिम से अपने घोड़ों पर चढ़कर आये, तो महामिन्धु के पश्चिम का विस्तृत भू-भाग भी इन्हीं के हाथों में था । हमारे पूर्वजों का इनसे युद्ध हुआ, जिसमें अश्वारोही विजयी हुए, और इनकी भूमि हमारे हाथ आई ।” किन्तु प्रिय ! मैंने दाम-दासियाँ नहीं देखी हैं, वह कैसी होती हैं ?”

“तुमने देखी हैं रोहिणी ? उस दिन मुदत्त के सार्थ के मुखिया के साथ एक काला आदमी मेरे पास आया था ।”

“हाँ, मैंने उसे देखा था । उसके केश और शरीर का रंग एक-सा काला था । उसकी आँखें लाल-लाल अंगारे-सी मालूम होती थीं । उसकी नाक बहुत चौड़ी तथा नथुने बड़े-बड़े थे । वह नाटा, किन्तु गठीला मालूम हो रहा था । क्या दास इसी तरह के होते हैं ?”

“नहीं, दासों का कोई खास रंग-रूप नहीं होता । हाँ, ज्यादातर दास काले होते हैं । किन्तु, दास उस आदमी को कहते हैं, जिसे तुम अपने घोड़े या बैल की भाँति जब चाहो बेंच-खरीद सकती हो ।”

“खरीद-बेंच सकते हैं ?”

“हाँ, प्यारी रोहिणी ! इस तक्षशिला में भी आर्य जब आज से हजार-डेढ़ हजार वर्ष पहले आये, तो उन्होंने भी पराजितों की दास-प्रथा को अपनाकर कितने ही दास-दासी रखे थे । किन्तु, पीछे अपनी उस काल की स्थिति में उसके प्रभाव से उन्हें भय होने लगा ।”

“किस बात का भय होने लगा ?”

“पहला भय था रुधिर-सम्मिश्रण का। यदि वह सम्मिश्रण हुआ होता, तो मेरी प्यारी रोहिणी ! तुम्हारे यह सुवर्ण केश किसी दूसरे रंग में दिखाई पड़ते। दूसरा कारण था, सैनिक-जीवन की कष्ट सहिष्णुता को छोड़ सुकुमार नागरिक बन जाने का डर, और इन सबसे बड़ा कारण था, पड़ोसियों के साथ निरन्तर संघर्ष में रहते वक्त घर के भीतर इन दासों के प्रभाव का सब तरह से बढ़ने का डर।”

“तो इसका प्रभाव लिच्छवियानियों के क्षत्रियत्वपर कैसा पड़ा ?”

“कर्मान्त, पशुचारण के लिये उनके पास काफी दास थे। चूल्हे-चौके, कूटने-पीसने के लिये उनके पास कितनी ही दासियाँ थीं, तुम्हीं समझो, यदि यह बातें तक्षशिला में होतीं, तो तुम आज की रोहिणी की जगह क्या होतीं ?”

“तुम्हीं बताओ, प्रिय !”

“तुम्हारे हाथ पद्म की भाँति लाल ही नहीं, वैसे ही कोमल भी होते।”

“कोमल भी ! तो मैं खड़ग नहीं चला सकती; मैं कुदाल नहीं उठा सकती। धनुष की प्रत्यंचा खींचने में मेरे अँगूठे और तर्जनी में छाले पड़ जाते।”

“और, तुम्हारे गाल और भी लाल होते ; किन्तु धूप के छू जाने-मात्र से उसपर स्याह भाई पड़ जाती।”

“तो मुझे घर के भीतर बंद रहना पड़ता !”

“थोड़ा-सा चलने में भी तुम्हारी साँस फूलने लगती।”

“तो मैं तड़ाग में तैरने से, जल-क्रीड़ा से वंचित हो जाती।”

“और फिर अपने हर काम के लिये तुम अपनी दासियों पर निर्भर रहती !”

“तो ये मेरे हाथ-पैर किस काम के ! मैं तो इसे कभी पसन्द न करती।”

“किन्तु, यदि तुम्हारी दादी-परदादियाँ ऐसा ही कर आई होतीं, तो तुम्हें यह पसन्द करना होता।”

“लेकिन, मेरे सिंह ! मेरे लिये तो ऐसा सोचना भी मुश्किल मालूम होता है। ताता की बात सुने हो न—‘चर्यी कामचोर का दंड है।’ दामियाँ रखनेवाली तो वस्तुतः भैंस हो जाती होंगी। क्या सभी लिच्छवियानियाँ ऐसी ही होती हैं ?”

“नहीं, मेरी प्यारी ! सोमा तुम्हारी ही जैसी होगी। सभी लिच्छवि इतने ‘भाग्यवान’ नहीं होते कि उनके सारे कामों को दास करें। यह धनी लिच्छवियों की बात है। हाँ, देखा-देखी सभी की लालसा ऐसी ही होती है। पुरुषों को तो वैसा जीवन स्वीकार करने में बाधा सैनिक-शिक्षा है; किन्तु स्त्रियों में यह व्याधि बहुत फैल गई है।”

“तो प्रिय ! क्या मुझे वैशाली जाने पर ऐसा ही बनना होगा ?”

मैंने उसके चिकने कपोल पर अपने ललाट को रखकर कहा—
“नहीं, प्यारी रोहिणी ! तुम वहाँ की स्त्रियों को गांधारियों के जीवन का पाठ पढ़ाना। मेरी माँ तुम्हारी ही तरह काम करती है, वह तुम्हें बहुत पसंद करेगी।”

“और सोमा ?”

“सोमा अभी व्याही नहीं है। वह सुंदरी है, और किसी धनी लिच्छविकुमार के प्रेम में पड़ी, तो क्या जाने उसे भी औरों-जैसा बनना हो।”

“नहीं, मैं अपनी ननद को वैसा नहीं होने दूँगी। वह सरस्वती-जैसी बन जायगी।”

“अच्छा, इसे छोड़ो, रोहिणी ! यह तो बतलाओ, यह कवच मेरे शरीर में ठीक आ रहा है ?”

“जरा पीछे की ओर तो देखूँ”—कह वह मेरी पीठ की ओर देखने गई ; और फिर बड़े उत्साह से कहा—“जान पड़ता है, यह कवच तुम्हारे

ही लिये बनाया गया हो। और प्रिय ! मैंने कभी ख्याल नहीं किया था कि तुम्हारा वक्त इतना चौड़ा है।”

“क्योंकि, वह हर रोज चार-चार अंगुल तो बढ़ता नहीं ; और तुम्हें देखना है उसे रोज-रोज।”

रोहिणी ने नाचती हुई पुतलियों के साथ कहा—“नहीं, रोज-रोज नहीं, क्षण-क्षण। और जानते हो सिंह ! यह मेरे दादा का कवच है, जिनकी छाती के बराबर उस वक्त छाती रखनेवाला कोई पुरुष न था।”

“दादा का !” मैंने कुछ भावावेश के साथ कहा।

“हाँ, और यह सदा विजय लाता रहा। मेरे सिंह ! तुम भी इसे पहने रणक्षेत्र से विजयी होकर लौटोगे।

“रोहिणी ! तुम्हारे खिले चेहरे को देखकर मुझे कितनी प्रसन्नता होती है।”

“मेरा चेहरा खिले क्यों नहीं ? हम गान्धारियों के लिये वह सबसे आनंद का समय होता है, जब हमारा प्रिय रणक्षेत्र के लाल कर्दम से सने शरीर के साथ लौटता है। जानते हो, मैं अपनी सहेलियों से बड़े अभिमान के साथ तुम्हारे हाथ के उम खड्ग-चिह्न के बारे में कहा करती हूँ। खड्ग-चिह्न से बढ़कर भूषण नहीं, उससे बढ़कर गौरव का कोई चिह्न नहीं।”

मैंने कर-त्राणों को निकालकर रोहिणी के कोमल केशोंवाले मिर को हाथ में लेकर कहा—

“प्यारी ! मालूम हुआ, तक्षशिला के पास हमें सिखाने के लिये और बहुत-सी शिक्षाएँ हैं। मेरी सुवीरे ! तुम्हारी-जैसी तरुणियाँ अपने तरुण प्रेमियों के भीतर कितना शक्ति-संचार करती होंगी ?”

“हाँ, मृत्यु को हम गान्धारियाँ भय की वस्तु नहीं समझतीं। मृत्यु का भय क्या ? आने के पहले उससे डरना निरी मूर्खता है। आ जाने पर वहाँ डरने के लिये रहता ही कौन है ? हमारे पास जीवन-रस का

स्वाद लेने ही के लिये अपना एक-एक क्षण चाहिये। जीवन नहीं रहेगा, इसकी चिन्ता के लिये हमारे पास समय नहीं।”

“किन्तु, मृत्यु प्रिय वस्तु का वियोग कराती है ?”

“तो क्या, मृत्यु से भयभीत को हम अपना प्रिय मान सकती हैं ? नहीं प्रियतम ! जब हम उसीको प्रिय बनाती हैं, जो वीर हो, जो निर्भय हो; तो उसका अर्थ ही है कि हम इस मूल्य को चुकाने के लिये तैयार हैं।”

रोहिणी के चेहरे पर गंभीरता छाई हुई थी, जब वह इन शब्दों को मुँह से निकाल रही थी। और मैं उसके एक-एक अक्षर को मुग्ध हो सुन नहीं, श्रवणों से पान कर रहा था। मैं सोच रहा था, वैशाली में ऐसी स्त्रियाँ, ऐसी माताएँ, ऐसी बहनें चाहिये। वहाँ ऐसी स्त्रियाँ नहीं हैं, यह बात नहीं; किन्तु सभी ऐसी नहीं हैं। मैंने फिर कहा—

“रोहिणी ! तुम मेरे लिये कितनी प्रिय हो ! सचमुच प्रेम मे केवल जीवन का स्थान है, वहाँ मृत्यु के लिये जगह नहीं।”

“प्रेम सदा जीवित रहता है, सिंह ! जब तक दो में से एक ज़िन्दा रहता है, तब तक ही नहीं, उसके बाद उस प्रकाशमान लोक में भी—जहाँ हमारे पुराने पितर रहते हैं।”

अम्मा की आवाज सुन रोहिणी उधर दौड़ पड़ी। आचार्य के कमरे में उनकी आहट सुन मैं उनके कमरे में चला गया। आचार्य ने मेरे कवच को देखकर कहा—

“सिंह ! तुम्हें यह कवच बहुत सजता है।”

मैंने शिर झुकाकर आचार्य के वाक्य का अनुमोदन किया। कुछ देर तक हम युद्ध की तैयारी के बारे में बातचीत करते रहे। मुझे उस वक्त रोहिणी का ‘पितर-लोक’ याद आया। फिर मैंने आचार्य से कहा—
“आचार्य ! क्या आप विश्वास रखते हैं कि वीर मरकर पितरों के प्रकाशमान लोक में जाते हैं ?”

“मेरे विश्वास का सवाल नहीं पूछो पुत्र ! किन्तु, मैं इसे एक मधुर कल्पना समझता हूँ। यह उस कल्पना से कहीं अच्छी है, जिसे कि प्राची के रजुल्लों ने अपनी प्रजा को अंधकार में रखने के लिये गढ़ा, और जिसे उस कपटी ऋषि प्रवाहण जैवलि ने प्राची में फैलाने की भारी कोशिश की। पितर-लोक की कल्पना में प्रियों के नित्य समागम की भावना काम कर रही थी; किन्तु रजुल्लों ने इसी लोक में फिर-फिर आकर पैदा होने की कल्पना को फैलाया। उसमें उनका नीच स्वार्थ काम कर रहा था। वह उसके द्वारा इस संसार के भीतर अपने अधिकारों—भोगों—का औचित्य साबित करना चाहते थे। यह दास-दासियों की दुनिया उनकी बनाई नहीं; बल्कि मनुष्य के अपने ही पहले कर्मों की बनाई है—यह था उनका अभिप्राय।”

“मैं भी आचार्य ! सोचता हूँ, इन कल्पनाओं की उन्हें ही जरूरत है, जिनके लिये मानव के जीवन का मूल्य सिर्फ कल्पना है, या जो जीवन को उसके धर्म [नियम] के अनुसार नहीं बिताते।”

“हाँ पुत्र ! दासता के संसार में पले कामचोरों का खाली दिमाग जीवन-रस का आनंद लेने लायक नहीं रह जाता। श्रम, व्यायाम, नृत्य हमारे भीतर भूख पैदा करते हैं, जिसे हम आहार का रसास्वादन कर सकते हैं, और उसे पचाकर शरीर को फिर श्रम, व्यायाम और नृत्य करने के लिये सज्जम बनाते हैं। यदि हम रसास्वाद की तैयारी के लिये आवश्यक श्रम से जी चुरायें, तो निश्चय ही हम अधिक समय तक रसास्वाद लेने लायक नहीं रह जायेंगे। दासों के श्रम पर पला मनुष्य अपने को जीवन-रस के उपभोग का अधिकारी नहीं रहने देता। फिर कभी वह जीवनरस को कोसता है, कभी दासता के विधान को न्याय्य साबित करने के लिये फिर-फिर जन्म की बात करता है। जीवन के रहस्य बहुत-से अविदित हो सकते हैं; किन्तु जीवन को छोड़कर जीवन की व्याख्या वंचनामात्र है।”

“और, यह जीवन की सत्यता ही है आचार्य ! जो हम तक्षशिला के लिये प्राणोत्सर्ग करने के लिये तैयार हैं ।”

“ठीक कहा पुत्र ! जीवन की सत्यता से इन्कार करने पर हम मानव नहीं, कायर कीट भर रह जाते हैं । ऐसा पुरुष अपने गण, अपने बन्धु तथा अपने आपका भी मित्र नहीं हो सकता । यदि वह किसीका मित्र हो सकता है, तो आर्तक्षत्र-जैसे लुटेरे खूनियों का, जो पराये घर, पराई सम्पत्ति को अपना बनाना चाहते हैं ।”

“तक्षशिला का चिर यौवन.....

×

×

×

×

(८)

युद्धक्षेत्र में

‘टिहू’ की आवाज तीन बार आई । हम सभी चौकन्ने हो अपने-अपने धनुष पर तीर लगा, सिंधु की धार पर छाये निविड़ अंधकार को फाड़कर देखने की कोशिश करने लगे । चारों ओर घोर सन्नाटा था, जिसमें हम एक दूसरे की साँस के शब्द को सुन सकते थे; लेकिन हमारा कान सिन्धु की धार की ओर था । थोड़ी देर में जल में थप-थप की आवाज सुनाई देने लगी । इस जगह पथरीली भूमि पर सिंधु की धार बहुत पतली है, हमें डर था, अंधेरी रात में इसी जगह पार्श्व नदी पार करने की कोशिश करेंगे । ‘टिहू’ की आवाज उस पार के जंगल में छिपे काव्य ने हमें सजग करने के लिये निकाली थी । वात की वात में थपथपी और नजदीक सुनाई देने लगी । उस अंधेरे में हम सिर्फ चलती आवाज का अंदाज करके ही बाण छोड़ सकते थे, और जान पड़ा हमारे तीरों ने कुछ असर किया; क्योंकि एक बार पतवार के शब्द पीछे की ओर लौटते सुनाई पड़े । हमने समझा, कम से कम आज रात को अब शत्रु फिर इधर आने का प्रयत्न न करेगा । उसी वक्त फिर एक बार ‘टिहू’ का शब्द सुनाई दिया; अर्थात्—खतरा दूर नहीं हुआ है, शत्रु और तैयारी के साथ आना चाहता है ।

नावों की वहाँ कमी नहीं, यह हमें मालूम था । महासिन्धु के ऊपर की नावें ही उसने नहीं जमा की थीं; बल्कि कुभा [काबुल नदी] पर सैकड़ों नावें बनाई जा रही थीं, इसका भी हमें पता था । मुझे पूरा निश्चय था कि शत्रु सर्वस्व की बाजी लगाकर इस पार आने की कोशिश करेगा । हमने सिद्धहस्त धानुष्यों को इस पार जमा कर रखा था; लेकिन नावों के इस पार पहुँच जाने का भी डर था, जिनकी प्रतीक्षा में खड़गधारी

जवान तैयार थे। साथ ही हमने तट-भूमि के पास पत्ते और लकड़ियों की ढेरियाँ तैयार कर रखी थीं। जिम समय पचासों नावें तीर की भाँति इस तट की ओर दौड़ने लगीं, उस वक्त हमारे धानुष्कों ने बाण-वर्षा शुरू की। किन्तु वह नावों की बाढ़ को रोक न सके, और उनमें अधिकांश इस तट पर पहुँच गईं। हमारे कुछ बहादुरों ने एक ओर पत्तों में आग लगा दी, और शत्रुओं के उतरते-उतरते उसकी ज्वाला इतनी ऊँची हो उठी कि उसके प्रकाश में नावों से उतरती मूरते हमें साफ दिखलाई देती थीं। अब पुलिन के ऊपर बैठ धानुष्कों का निशाना उनपर अच्छी तरह लग सकता था; किन्तु, वह इतना न था कि पार्श्व सैनिकों को पीछे लौटने को बाध्य करता। आखिर उनमें काफी कवचधारी थे। लेकिन, जैसे ही वह तट के ऊपर की ओर बढ़ने लगे, वैसे ही मैंने भिड़ने के लिये अपने भटों को आदेश दिया। आग के लाल प्रकाश में चमचमाती तलवारें, तुमुल जय घोष, और नीचे की ओर लुढ़कती लाशें! वस, यही उस जल्दी-जल्दी बीतते समय में दिखाई पड़ रहा था। हमारे भटों को एक ओर सुभीता था। वह ऊपर की ओर थे, जब कि पार्श्व-सैनिकों को नीचे से प्रायः खड़ी धार पर ऊपर की ओर बढ़ना होता था। पैरों के नीचे से खिसक जानेवाले पत्थर उनकी कठिनाइयों को और बढ़ा रहे थे। मैं एक ओर से दूसरी ओर दौड़ता अपने भटों को उत्साहित कर रहा था, और वह स्वयं देख रहे थे कि शत्रु की पंक्ति तेजी के साथ विरल होती जा रही है। इसी वक्त मेरी नजर एक बलिष्ठ कवचधारी पुरुष पर पड़ी। वह नीचे नाव की ओर खिसकने लगा था। मुझे मालूम नहीं, किस वक्त मैंने नीचे उतरने का निश्चय किया। मैं इतना जानता हूँ कि दूसरे क्षण मेरी गदा की जबर्दस्त चोट से भहराकर वह धराशायी था; लेकिन इसी बीच मैंने अपने चारों ओर पार्श्व-भटों को प्रहार करते देखा। मैंने बड़े परिश्रम से अपने बायें हाथ को दाहिने-जैसा बनाया है। आचार्य बहुलाश्व की शिक्षा थी कि यह एक आदमी के दो के बराबर बनाता है। मेरे

बायें हाथ में भाला अब भी मौजूद था, यद्यपि कवच का ख्याल कर मैंने गदा से पार्श्व-सेनापति को गिराया था—हाँ, वह इस सारी अनी का सेनानी था; यह हमें पीछे मालूम हुआ ।

मैं लपक-लपककर वेहताशा अपनी छवारी गदा और दूरवालों पर भाला चला रहा था । यद्यपि जिधर को मैं झपटता, उधर से भट काई की भाँति फट जाते ; किन्तु, पीछे की ओर से उनके प्रहार पर प्रहार मेरे कवच पर हो रहे थे । मुझे न प्रहारों के गिनने की फुर्सत थी और न यह देखने की कि वे कितने हैं । एक के बाद एक लुढ़कते भटों को देखकर मेरा उत्साह दूना हो रहा था, और अपने भटों की आवाज को अपनी ओर करीब आती सुन रहा था, उसी वक्त एक भाला मेरी दाहिनी जाँघ में घुस गया । अभी सँभल ही रहा था कि देखा एक देव-जैसा पार्श्व-भट मेरे सिर पर अपनी प्रचंड गदा को छोड़ रहा है । मैंने आखिरी प्रहार उस आदमी पर किया, और उसके बाद मेरी आँखों के सामने अंधेरा छा गया ।

मध्याह्न का समय था, जब कि मैंने पहले-पहल अपनी आँखें खोलीं । देख रहा हूँ, एक विशाल वृक्ष है, जिसकी हरी पत्तियाँ हवा से धीरे-धीरे हिल रही हैं । ऊपर की पत्तियों के सिवा मुझे कुछ दिखलाई नहीं दे रहा था । मैं कहाँ हूँ, इसकी जिज्ञासा का समाधान न होते देख मैंने हिलना चाहा; किन्तु उस वक्त जान पड़ा मेरे रोम-रोम में तीव्र वेदना हो रही है । दाँतों को जोर से दबाकर मैं शिथिल पड़ रहा, तब देखा मेरे मुँह की ओर एक परिचित चेहरा झुक रहा है । मेरी स्मृति अभी भी दुरुस्त न थी । मैं समझता था, मैं पितरलोक में पहुँच गया हूँ, जहाँ सभी पुरातन वीर चिर-किशोरावस्था में रहते हैं । किन्तु, इसी समय शब्द कान में आया—

“प्रिय ! कैसी तबीयत है !”

रोहिणी का स्वर पहचानना उस समय की स्मृति के लिये भी

मुश्किल न था। वस्तुतः मुझे भ्रम हुआ था, रोहिणी के शिरस्त्राण-नासिकात्राण-आच्छादित मुख के कारण। मैं अपनी व्यथा को भूल गया और बड़े हर्ष से बोल उठा—

“रोहिणी ! तुम कहाँ ?”

“जहाँ तुम, प्यारे सिंह !”

“क्या, पितरलोक में हमारा मिलन हो रहा है ?”

“नहीं, इसी लोक में, प्यारे ! ज्यादा मत बोलो, आज तीसरे दिन तुम्हें होश हुआ है। मैं स्वयं सब बतला रही हूँ। तुम महासिन्धु के उसी घाट के ऊपरी भाग पर हो, जहाँ तुमने पार्श्व-सेना के प्रधान भाग को परास्त किया, और जहाँ उसके सेनापति को तुमने बंदी बनाया।”

“बन्दी !”

“हाँ, बन्दी। तुम्हारी गदा ने उसे बेहोश कर गिरा दिया, और पीछे हमने उसे बंदी बनाया।”

“रोहिणी ! तुम कब यहाँ आई ?”

“मैं सब बतलाती हूँ।” रोहिणी ने मेरे ललाट पर अपने हाथ को रखा—“तुम्हारे शरीर में बहुत कम खून रह गया है ; तुम्हारा अरुण मुख सफेद हो गया है, मेरे प्यारे सिंह ! बोलने की कोशिश न करो, न बहुत चिन्तन करो, वैद्य ने मना किया है। मैं तुम्हारी जिज्ञासाओं की तृप्ति करती हूँ। स्मरण है, मैंने चिर-गाढ़ालिगन किया था ; फिर तुम्हारे ओठों और आँखों को चूमा था। तुमने कहा था—प्रिय ! भूखी लाल-साओं को चिर-तृप्ति प्रदान करो। मैंने चिर-तृप्ति प्रदान की। फिर अपने हाथों से मैंने तुम्हें कवच पहनाया, तुम्हारे सिर पर शिरस्त्राण बाँधा। तुम्हारे शरीर को वर्म-आच्छादित कर एक बार फिर लौह-आलिगन किया। फिर तुम्हारी बायीं ओर खड्गकोश लटकाया और दाहिनी ओर भारी गदा को। तुम ताता और अम्मा का आशीर्वाद ले अपने घोड़े पर चढ़ रण-क्षेत्र को खाना हुए। उसी दिन मैंने सरस्वती के कर्मान्त पर

जाने की ताता से आज्ञा माँगी । लेकिन, वह आज्ञा उस सरस्वती के पास जाने के लिये नहीं, इस सामने की सरस्वती—महा-सिन्धु—पर आने के लिये थी । तुम फिर बोलना चाहते हो, प्रियतम ! मैं जानती हूँ, तुम मुझे साधुवाद देना चाहते हो ; किन्तु अभी नहीं । अभी अपनी जिज्ञासा-मात्र को तृप्त होने दो ।”

जरा-से भावावेश से शिथिलता आती देख, मैं समझने लगा था अपने शरीर की अवस्था को ; इसलिए मैं चुपचाप लौहाच्छादित रोहिणी के यत्र-तत्र दिखलाते अरुण मुख को निहारता रहा । उसने अपनी बात को फिर प्रारम्भ किया ।

“मैंने इस कवच का इन्तिजाम कर लिया था ; मैंने हथियारों को जमा कर रखा था । द्यूद्रोहिन्—रोहिन् के बछड़े—पर सवार हो, उसी दिन रात को मैं महासिन्धु के तट पर पहुँची । पहाड़ की खोह में तुम्हारे घोड़ों में मैंने अपने घोड़े को छोड़ दिया । उसी वक्त संग्राम की ध्वनि मेरे कानों में आई, जिस कलकल में तुम्हारे गंभीर निर्घोष को पहचानने में मुझे देर न हुई । मैं दौड़ी; किन्तु देखा तुम्हारी आवाज बंद हो गई है । तट के ऊपरी भाग में खड़े हो, अग्नि-प्रकाश से प्रकाशित वीरों के प्रहार को मैं देख रही थी ; और, नीचे पानी पर मुझे नावें दिखलाई पड़ीं । उसी वक्त मैंने दो विशाल भट-नायकों को एक-दूसरे पर प्रहार करते देखा । किसी निश्चय पर पहुँचने से पहले तुमको पार्श्वों से घिर जाते देखा । अपना शल्य सँभाल, लड़ते हुए भटों की पंक्ति को चीरकर मैं नीचे की ओर दौड़ी ; किन्तु वहाँ उस वक्त पहुँची, जब तुम बेहोश पार्श्व-सेनापति के पास गिर गये थे । मैंने तुम्हारे ऊपर प्रहार करते भटों पर फुर्ती से शल्य चलाना शुरू किया, और इसी बीच बहुत-से हमारे भट पहुँच गये ।

“पार्श्व पूरी तरह परास्त हुए, यही नहीं और जगह भी । सिर्फ एक जगह वह सिन्धु पार कर कुछ भीतर घुसने में सफल हुए ; किन्तु

मद्र-वीरों ने वहाँ उन्हें हत-आहत कर पीछे हटने के लिये मजबूर किया । अभी तक जो समाचार मिला है, उससे पता लगता है, पार्श्व शासक का अभियान बहुत विस्तृत रूप में था, और वह पूरी तौर पर असफल रहा । उनके बहुत कम सैनिक जान बचाकर लौट सके हैं । उनका प्रधान सेनापति मज्ददात तुम्हारी गदा से आहत हो हमारा बंदी हुआ है । हमारी सेनाएँ महासिन्धु पार हो, इस वक्त पुष्कलावती [चार सदा] की ओर शत्रु की बची सेना का पीछा कर रही हैं । कुभा [काबुल] और सुवास्तु [स्वात]-तीरवर्त्ती हमारे बंधु इसमें हमारा साथ दे रहे हैं । प्रधान सेनापति प्रियमेध आज सबेरे आकर तुम्हें देख गये । कह रहे थे—‘तक्षशिला सदा के लिये वैशाली की ऋणी रहेगी । तक्षशिला को भी लेख भेजा जा चुका है । तुम्हारी रक्षा में कपिल को एक गहरी चोट आई है ।’

“तक्षशिला वैशाली की ऋणी रहेगी” इस वाक्य की प्रतिध्वनि मेरे कानों में देर तक गूँजती रही । मैं ६० योजन पर रहकर भी अपनी वैशाली के लिये कुछ कर सका, इस अभिमान का प्रभाव मेरे रोम-रोम पर पड़ रहा था । मैं समझता था, मेरे घावों का सबसे बड़ा औषध यह है ; फिर मैं अपने ऊपर झुके मुख की ओर एकटक देखता रहा । मैंने डरते हुए कहा—“मैं ज्यादा नहीं बोलूँगा, प्यारी रोहिणी ! यदि जरूरत न हो, तो अपने शिरस्त्राण को उतार दो ।”

रोहिणी ने शिरस्त्राण उतारकर रख दिया । मेरी अवस्था को देखकर उसे सन्तोष हुआ है, यह उसके चेहरे से ही मालूम होता था । मैं सोचता था, रोहिणी के कोमल से लगनेवाले शरीर में कितना कठोर साहस है । यह है वह नारी जिसके रहने पर कोई जनपद दास नहीं बनाया जा सकता ।

रोहिणी ने एक चषक (प्याला) कापिशेयी सुरा मेरे ओठों में लगायी । वह उन हाथों से अधिक मधुर लगती थी । उसकी आँखों की ओर

देखते हुए मेरे मन में तरह-तरह के विचार उठने लगे, और धीरे-धीरे पलकें भारी हो चलीं। फिर मैं सो गया।

मेरे शरीर में खासकर कटि के नीचे बहुत-सी गहरी चोटें थीं, जिन्हें औषध लगाकर खूब बाँध रखा गया था, और जरा-सा भी हिलने-डुलने में भारी पीड़ा होती थी। उस अवस्था में तुरन्त मुझे तक्षशिला ले जाना खतरे की बात थी; इसलिये पास ही में सीमापाल के निवास पर मुझे ले जाया गया। वहाँ कितने ही दिनों रहना पड़ा, कितनी पीड़ा हुई, इसका मुझे स्मरण नहीं। मुझे स्मरण है मिर्फा रोहिणी का सदा पास में हँसता मुख, और उसके हाथ से मेरे ओठों में पड़ती उदुम्बरवर्णा [गूलर-जैसी लाल] मधुर सुरा। मनुष्य का स्वभाव भी कैसा है? वह आग के भीतर भी शीतल ठाँव ढूँढ़ लेता है, वह कटुता के भीतर भी आस्वाद पैदा कर लेता है। मैं मृत्यु के मुख से अभी-अभी निकला था; मेरा शरीर व्रणों से भरा हुआ था; दिन बीतने के साथ मैं अच्छा होनेवाला था। किन्तु, मेरी इच्छा थी, मैं ऐसे ही मंच पर पड़ा रहूँ—रोहिणी इसी तरह मेरे पास बैठी रहे।

सप्ताह के भीतर ही आचार्य भी मुझे देखने आ गये, और तीन सप्ताह बाद मैं शिविका पर तक्षशिला के लिये खाना हुआ। रोहिणी और काम्य साथ-साथ घोड़े पर थे।

द्वार पर ही माताजी ने स्वागत किया। जिस वक्त वह मेरे ललाट पर चुंबन दे रही थीं, उस वक्त मैंने देखा, उनके नेत्र सजल थे। उन्होंने इतना ही कहा—

“वीर पुत्र ! तेरा स्वागत है।”

(८)

उत्तर-कुरु में युद्ध

पूरी तौर से घावों के अच्छा होने में मुझे तीन मास लगे । कपिल तक्षशिला का दूसरा तरुण, जिसने रोहिणी के साथ अपने प्राण को जोखिम में डाल, मेरी जान बचाई थी, अब मेरा गहरा दोस्त था । मुझे यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि मेरे दूसरे पाँचो वैशालीय बंधु अक्षत शरीर ही नहीं लौटे हैं, बल्कि उन्होंने अपने सेनानायकों की प्रशंसा का अपने को पात्र भी बनाया है । इन मासों में, जब कि मैं चारपाई पर पड़ा रहता था, मेरे पास निरन्तर उपस्थित रहनेवाली मूर्तियों में रोहिणी के बाद दूसरा नंबर कपिल का था । कपिल के साथ बात करने में बहुत आनन्द आता था । वह एक बहुश्रुत ही नहीं, बल्कि बहु-दृष्ट तरुण था । उसने कपिशा [कोह-दामन, अफगानिस्तान], उत्तर-कुरु [वलु नदी का ऊपरी प्रदेश], पश्चिम मद्र [पश्चिमी ईरान] बबेरु, [बाबुल] आदि देशों की यात्रा की थी, और सार्थ के साथ कितने ही संकटपूर्ण रास्ते पार किये थे । एक दिन मैंने कपिल से पूछा—

“बंधु कपिल ! तुम्हें इन देशों में कौन अधिक समृद्ध और क्षेमपूर्ण मालूम हुआ ?”

“तक्षशिला के बाद ही समझना चाहिये, मित्र ! तक्षशिला जैसा क्षेमपूर्ण शासन तो कहीं मुझे दिखाई नहीं पड़ा । हमारे गण में चोर और कायर का पता नहीं है, और उन देशों में, अधिकांश में दोनों ही मिलते हैं । हाँ, उत्तर-कुरु के नर-नारी अब भी वीर, अब भी उदार हैं । पार्श्वों ने उनको परतन्त्र बनाने की बहुत कोशिश की, किन्तु कुरु की पहाड़ियों में उनके-जैसा जन का जीते-जी परतंत्र होना असंभव है ।”

“और सम्पत्ति, समृद्धि ?”

“यदि सम्पत्ति-समृद्धि का अर्थ है शरीर की सारी आवश्यकताओं का सुलभ होना, तो मित्र ! उत्तर-कुरु अति सम्पन्न, अति समृद्ध देश है। वहाँ के लोग अधिकतर मृगया और पशुपालन पर गुजारा करते हैं। कृषि बहुत कम करते हैं। उत्तर-कुरु के पर्वतों में अकृष्टपच्य [स्वयं उत्पन्न होनेवाली] गेहूँ और द्राक्षालता होती है। हाँ, वह द्राक्षा कापिशेयी द्राक्षा के बराबर बड़ी और मीठी नहीं होती, तो भी होती बहुत है। लोग चमड़े की पोशाक पहनते हैं—गाय, भेड़ और घोड़े का मांस खाते हैं।”

“घोड़े का मांस” साधारण भोजन के तौर पर ?”

“हाँ, घोड़े का, गाय से भी अधिक। वह घोड़े पालते भी ज्यादा हैं। हमारे यहाँ भी घोड़े का मांस जो छोड़ दिया गया है, वह उसकी महार्घता के कारण। वसन्तारम्भ के दिन तुमने उसे चखा तो जरूर होगा ?”

“हाँ, चखा क्यों नहीं है ; किन्तु, यहीं मित्र कपिल ! प्राची में घोड़े का मांस सिर्फ खास यज्ञ में खाया जाता है ; और वह यज्ञ इतना खर्चीला है कि उसे कोई-कोई राजा ही कर पाता है। और हम गणवाले तो उसे करते भी नहीं।”

“उत्तर-कुरु में एक और खास बात है मित्र ! वहाँ ‘मैं और मेरा’ का भाव नहीं।”

“लालच नहीं ?”

“लालच ही नहीं, बल्कि लालच का कारण नहीं। राजाओं के शासन में राजाज्ञा पर सारे जनपद को चलना पड़ता है। पार्श्व शासानु शास [शाहशाह] का आदेश यवन समुद्र से महासिन्धु तट तक अनुल्लंघनीय है। हम गण तंत्रवाले किसी एक व्यक्ति को अपना स्वामी मानने के लिये तैयार नहीं ; किन्तु हमारे यहाँ भी किसीके पास अधिक कर्मान्त [खेती, कामथ] है, किसीके पास कम, किसीके पास अधिक पशु हैं,

किसीके पास कम । हम वाणिज्य से भी अपनी सम्पत्ति को बढ़ा सकते हैं, किन्तु उत्तर-कुरु में यह असमानता सोची भी नहीं जा सकती ।”

“सोची भी नहीं जा सकती, तो क्या वहाँ कोई गृहस्थ दूसरे से अधिक धन नहीं रख सकता ?”

“किसीका अलग-अलग धन ही नहीं, उत्तर-कुरु के लोगों का सब कुछ सम्मिलित है । उनका प्रधान धन पालतू या मृगया का पशु है, जिसमें सभी का सम्मिलित श्रम और भोगने का समान अधिकार होता है ।”

“इसका अर्थ क्या यह है कि आलसी और मेहनती दोनोंको भोग में समान अधिकार है । यदि ऐसा है, तो आलसी समाज में बुरा मर्ज फैलाते होंगे ।”

“नहीं, मित्र ! उनकी मनोवृत्ति ऐसी बन गयी है, कि कोई सामर्थ्य रखते हुए कामसे जी नहीं चुराता । हमारे यहाँ खाने के बाद हाथ धोने का रवाज है, मैं समझता हूँ, वैशाली में भी यह बात होगी ?”

“हाँ, इससे कुछ अधिक ही, क्योंकि वहाँ चमड़े का कंचुक पहिनने लायक जाड़ा कभी पड़ता ही नहीं ।”

“हाँ, तो मित्र सिंह ! आप देखते होंगे, आलसी से आलसी आदमी भी खाना खाकर हाथ को धोने में जी नहीं चुराता । लेकिन, यह बात सभी देशों में नहीं है । कम्बोज [काफिरस्तान] में हाथ धोने की जरूरत नहीं समझी जाती, वहाँ खाकर हाथ को कंचुक में पोंछ लिया जाता है ।”

“तो आप समझते हैं, यदि बचपन से वैसी आदत डाल दी जाय, तो कोई काम से जी चुरानेवाला नहीं रहेगा ।”

“हाँ, यदि क्षमता के अनुसार उससे काम की आशा रखी जाय, तथा कामचोर को सभी नीची नजर से देखें ।”

“खैर, जब आप उत्तर-कुरुवालों को स्वयं देख आये हैं, तो उसमें सन्देह करने की गुंजाइश कहाँ है । किन्तु, तब भी मुझे तो वह अद्भुत-सा लोक मालूम होता है ।”

“अद्भुत ! पहिले आँखों पर विश्वास नहीं होता था । उत्तर-कुरु की सीमा के भीतर पहुँचना बहुत मुश्किल है ।—”

“मुश्किल क्यों ?”

“वह दूसरे जनों को अपने देश के भीतर आने नहीं देते । वह समझते हैं हमारी भूमि और हवा को ये लोग गंदा कर देंगे । उत्तर-कुरु के भीतर घुसने की पगडंडियाँ बहुत संकरे और खतरनाक दर्रे से गुजरती हैं, जिनपर वह निरन्तर पहरा देते रहते हैं, और किसी भी छिपकर जानेवाले के लिये मृत्यु के सिवा दूसरा दंड नहीं ।”

“फिर तुम कैसे पहुँच सके ?”

“संयोग समझिये, जबसे पश्चिम गंधार-गण को पार्श्वों ने पराजित कर परतंत्र बनाया, तब से मेरे और हर एक गाँधार के दिल में पार्श्वों के प्रति जबर्दस्त घृणा की आग धधकती रहती है । मैं व्यापारिक सार्थ के साथ वल्लुतटपर गया हुआ था, उसी वक्त मैंने सुना वाह्लीक [बलख] का क्षत्रप उत्तर-कुरुपर आक्रमण करना चाहता है । मैंने उत्तर-कुरु के बारे में जो कुछ सुना था, उस पर विश्वास करने की तबियत तो नहीं करती थी, किन्तु सुनी थी प्रशंसा ही—उत्तर-कुरु में देवताओं का वास है ; पृथिवीपर वहीं स्थान है, जहाँ देवता अब भी सदेह निवास करते हैं ; वह उड़ सकते हैं ; उनके देश के पाँच योजन तक, ऐसा जादू है, जहाँ पहुँचते ही आदमी वृक्ष बन जाता है । तुम समझ सकते हो मित्र ! मुझमें वह वचन नहीं रहा, जो इन बातों पर विश्वास करता । किन्तु मुझे उस विश्वास या अविश्वास से काम न था । मैं तो यह देख रहा था, कि नीच पार्श्व एक और स्वतंत्र जन को पराधीन बनाने जा रहे हैं । मैंने तै किया उत्तर-कुरुओं की सहायता कर पार्श्वों से गंधार का बदला लूं । मैंने दो तर्कश तीक्ष्ण शरों से भरे, और सैकड़ों फल अलग बाँध लिये—मुझे पता था, वल्लु [आम्र दरिया]-तट सिर्फ मुंजका जंगल है । मैंने खड्ग, शल्य आदि सभी शस्त्र सँभाले, एक

सूखी वत्सतरी बगल में लटकाई, और कम्बोज के एक श्रेष्ठ पहाड़ी अश्वपर चढ़ वृक्षतट और फिर ऊपर की ओर चल पड़ा।”

“अकेले ?”

“हाँ अकेले, और मैंने सिवाय खड्ग के अपने हथियारों को छिपा रखा था।”

“अज्ञात भूमि की ओर इस तरह का प्रयाण बड़े साहस की बात है।”

“और निर्बुद्धिता की भी, मैं यह मानता हूँ, किन्तु जीवन में कितनी ही बार आदमी इस प्रकार की निर्बुद्धिता की बातें कर बैठता है। आखिर तुमने भी मित्र सिंह ! उस दिन शत्रु-पंक्ति के भीतर घुसकर अकेले मज्जदात पर आक्रमण कर बहुत बुद्धिमत्ता का काम नहीं किया था।”

“हाँ, इसे मैं कितनी ही हद तक मानता हूँ। मैं समझता हूँ, सेना-नायक को अपना दिमाग हमेशा ठंडा रखना चाहिये ; और उस वक्त मैंने कमजोरी दिखलाई थी।”

“तो वही समझो। साथ ही मैं किसी सेनाका संचालक न था, ज्यादा से ज्यादा सार्थ के छै मुखियों में से एक था—हम सभी एक साथ वाणिज्य के लिये निकले थे। भूमि अज्ञात जरूर थी, किन्तु मुझे यह मालूम था कि वृक्ष की ऊपरी मंजों में पहाड़ के पास घुमन्तू चरवाहे रहते हैं, जिन्हें उत्तर-कुरु के देवताओं का दर्शन हुआ करता है। मैंने कादली मृग के नरम चमकीले चर्म को कितनी ही बार वाह्यिक के व्यापारियों के पास देखा था, और पता लगाने पर यह भी मालूम हुआ, कि यह उन्हीं मुंजवान् पर्वतों की ओर से आती है, जहाँ वह घुमन्तू जाति रहती है। मुझे संयोग से उस जाति का एक आदमी मिल गया। उसने भी वही देवताओं की कथायें शुरू कीं, किन्तु वत्सतरी के कोमल मांस के साथ जब उदुम्बरवर्णा कापिशेयी सुरा को पीने के लिये मैंने उसे निमंत्रण दिया, तो थोड़ी ही देर में हम चिर-मित्र

बन गये, और उसने बतलाया—यह चर्म उत्तर-कुरु से आते हैं, हम उन्हें लोहा देते हैं, और वह हमें यह चर्म देते हैं। लोहे के अतिरिक्त वह हमारी किसी वस्तु को नहीं लेते।”

“तो तुम्हें विश्वास हो गया था, कि उत्तर-कुरु में देव नहीं मानव रहते हैं।”

“हाँ, निश्चित, नहीं तो मित्र सिंह ! देवों को मानव-सहायता की आवश्यकता क्या ? मैं उन्हीं मौजवत घुमन्तुओं की ओर चल पड़ा। क्षत्रप की सेना दूसरे रास्ते बढ़ी, किन्तु मैं बराबर उसकी ओर नजर रखता था। बात संक्षेप करते हुए कहूँगा, पार्श्व सैनिक पहाड़ पर पहुँच गये। मैं एक मौजवत गोष्ठ में उस दिन ठहरा था, उसी दिन कुछ पार्श्व सैनिकों ने गोष्ठ की स्त्रियों पर बलात्कार करना चाहा। शास-नुशास की इसके विरुद्ध सख्त आज्ञा है, किन्तु युद्ध के पागलपन में पराये टुकड़े पर प्राण देनेवाले सैनिकों को कोई आज्ञा रोक नहीं सकती। मैंने उस दिन तक्षशिला की तलवार का जौहर दिखलाया, और सैनिकों को हत-आहत कर नारियों को बचाया। मौजवत मुझे बहुत प्रमत्त हुए, मुझपर उनका विश्वास हो गया। हम लोगों ने जल्दी पशुओं को नदी के दूसरे पार किया, और रात ही रात अनेक योजन दूर घने जंगल में घुस गये। अब मैंने उनसे बयलाया कि मैं पार्श्वों से कितनी घृणा करता हूँ, और उनके विरुद्ध मैं उत्तर-कुरुओं की मदद करना चाहता हूँ। इस पर उन्होंने पहिले तो फिर देवताओं की कथा दुहरानी चाही, किन्तु जब उन्हें मालूम हुआ कि मुझे कुछ सच्ची बातों का भी पता है, तो उन्होंने हितैषी के तौर पर कहा, कि उत्तर-कुरु के लोग देखने के साथ तुम्हें मार डालेंगे। मैंने मृत्यु का उपहास करते हुए कहा—‘मरना बुरा नहीं, किन्तु बिना पाँच पार्श्वों को मारे मरना मैं कभी स्वीकार न करूँगा।’ उन्होंने मुझे वक्ष के बायें तट से उस गुप्त स्थान तक पहुँचा देना मंजूर किया, जहाँ वह लोहे से कादली मृगचर्म का विनिमय करते हैं।”

“तो वयस्य ! तुम देवताओं की भूमि के छोर पर पहुँचने में सफल हुए ।”

“साथ ही उसका देवपन भी मेरे दिल से दूर हटता गया । कुछ ही दूर तक घोड़ा जा सकता था, फिर हमें अपना सामान भेड़ों पर रख पैदल ही चढ़ना पड़ा—निश्चय ही जहाँ भेड़ें नहीं जा सकतीं, वहाँ मनुष्य भी नहीं जा सकता । मौँजवत लोग भी हमारी ही तरह गोरे और बलिष्ठ होते हैं, यद्यपि नहाने-धोने का बहुत कम खयाल रखते हैं । हम एक सप्ताह तक वज्र से ऊपर की ओर कई शाखा-सिन्धुओं को पार करते चले गये, वहाँ वज्र की धार बहुत पतली—किन्तु तीक्ष्ण—हो गई थी, और दोनों किनारे से दो चट्टानें—दाहिनी ओर ज्यादा ऊँची—आकर मिलती हुई मालूम होती थीं । पथ-प्रदर्शक ने बतलाया, वस यहीं तक हमारा देखा हुआ है, कुरु लोग इन्हीं चट्टानों पर लकड़ी रखकर इस पर आते हैं, और लोहा बदल कर ले जाते हैं । इस चट्टान से उम पार जाना हमारे लिये मौत है, यदि हम उनके हाथ में पड़ जायँ ।

“मैंने देख लिया था, कि पार्श्व वज्र के दाहिने तट पर अभी बहुत पीछे हैं । अभी मुझे आगे का कर्त्तव्य भी निश्चित करना था । विदा होते वक्त मौँजवत पथ-प्रदर्शक ने सावधान कर दिया था, कि मैं आग न जलाऊँ, नहीं तो धुआँ देखते ही देव अपनी कोपाग्नि में मुझे जला डालेंगे । सूखा मांस मेरे पाम काफी था, और जंगल में द्राक्षा-गुच्छक पके हुए लटक रहे थे ; इसलिये भूखे मरने का डर न था ।

“दूसरे दिन तड़के मैं कुछ दूर हटकर एक चट्टान की आड़ में बैठा पार की ओर देख रहा था, उस वक्त कुछ हिलती हुई चीजें दिखलाई पड़ी, जिन्हें गौर से देखने से मालूम हुआ, वह मनुष्य—स्त्री-पुरुष—हैं । उनके शरीर पर हरे रंग के चमड़े की पोशाक थी, जो उस पार्वत्य हरियाली में बिल्कुल छिप जाती थी । उनके शिर पर कनटोप तथा शरीर पर चमड़े की चादर इस तरह बंधी हुई थी, कि दाहिना हाथ बिल्कुल

खुला हुआ [जनेऊ जैसा] था। उनके बायें कंधे पर वैसा ही हरा तरकश तथा हाथ में धनुष था। उनके पैरों में जूता भी था। मैं समझ गया यही उत्तर-कुरु के देव-देवी हैं, जिनकी ओर से पार्श्वों के साथ लड़ने के लिये मैं यहाँ पहुँचा हूँ। मैं उनके चौकन्ने कानों को देख रहा था, और देख रहा था कैसे वह बीच-बीच में नथुनों को फुला-सिकोड़कर गंध सूँघना चाहते हैं। मैं सच कहूँ, मित्र सिंह ! मुझे बहुत भय मालूम हो रहा था—क्या मेरी मानुष गंध का उन्हें पता तो नहीं लग रहा है। मैं और भी सिमटकर चट्टान के पास पड़ रहा। मैंने चींटियों की पाँती की भाँति उन्हें नीचे की ओर जाते देखा।

“अब मुझे यह समझने में देर न लगी, कि उनका पहिला मोर्चा और नीचे है। रात को अंधेरा हो गया, तब मैंने अपने हथियारों तथा कुछ माँस के टुकड़ों को ले नीचे की ओर चलना, नहीं सरकना शुरू किया। न मालूम कितने घंटों के बाद एक योजन नीचे उस स्थान पर पहुँचा जहाँ वल्लु की गर्जन करती धारा के किनारे से सैकड़ों हाथ सीधी एक चट्टान खड़ी थी। इसीके पीछे देव लोग आग जला माँस भून रहे थे, जिसकी सोंधी सुगंध मेरे पास तक आ बार-बार जीभ में पानी उतार रही थी। मौँजवतों के ग्राम [भुंड] को छोड़ने के बाद आग का दर्शन बस आज ही हुआ था।

“मैं सूखे माँस के कितने ही ग्रास खाकर पास के चश्में से पानी पी, एक आड़ की जगह ढूँढ़ सवेरे की प्रतीक्षा में लेट रहा। अन्धेरे ही में उठकर मैंने फिर दिन भर के निश्चिन्त होने के लिये भोली से निकाल माँस को पेट में डाल लिया, और उसी चट्टान की ओर देखने लगा, जिसके पीछे रात देवों की आग जल रही थी। पह फटते वक्त मैंने देखा, कुछ हरितवसन मूर्तियाँ उस खड़ी चट्टान की कटि से छिपकली की भाँति सरकती पार हो गयीं। वह अपने साथियों से कुछ कह रहे थे, किन्तु उनके शब्द मेरे पास तक स्पष्ट नहीं पहुँचते थे—देवों की वाणी

हमारी तक्षशिला की भाषा से कुछ भिन्नता रखती है, किन्तु उसे हम समझ सकते हैं। खूब उजाला हो जाने पर देव-देवियों के चेहरों को भी मैं साफ देख सकता था, उनकी चेष्टा से जान पड़ता था कि वह भयभीत हैं।

“दो पहर के करीब पार्श्व भटों की पंक्ति हमें दिखलाई पड़ी; दूर से ही। रास्ता इतना संकरा था कि उसपर एक से अधिक आदमी एक साथ चल नहीं सकता था। उन्हें चट्टान के पास पहुँचते देख मेरा दिल दहलने लगा। जरा देर ठमककर, मैंने देखा, उनमें से एक ने जूता खोल दिया और कमर से खड्ग लटकाये उसी चट्टान पर सरकना शुरू किया। देव उनके पैरों की आहट सुन, अपने खड्ग तथा धनुष को तैयार रखे हुए थे। मैंने देखा चट्टान के जिस खुर्चुरे भाग पर यह चींटियाँ रेंग रही हैं, वह इस तरह तिछा था कि देव आनेवाले को तभी देख सकते थे, जब कि वह ओट में रखनेवाले शिला-कोण को पार करते। स्वतरे को देव उतना नहीं अनुभव करते थे, जितना कि मैं कर रहा था। चट्टान की कमर का अन्त का थोड़ा-सा भाग ऐसा था, जिसे बहुत धीमी गति से पार करना पड़ता था, नहीं तो बाकी जगह को दौड़कर पार किया जा सकता था। रोकनेवाले देव-देवियों की संख्या दो सौ से ज्यादा न होगी, और इधर दो हजार से अधिक पार्श्व मेरे सामने थे। मैंने सोचा यदि इस जगह से बिना रोक-टोक पार्श्व पार हो गये, तो वह अपने संख्याबल से देवों को परास्त करने में सफल होंगे।

“घने गुल्म में बैठे मैंने अपने धनुष को सँभाला, और इन्तिजार करने लगा उस सरकने की जगह पर किसीके सरकने का। जिस वक्त कोई पार्श्व उसपर से वहाँ पहुँचता, वह मेरे अचूक तीर का निशाना बन नीचे वज्र की धार में गिरता। मैं तीर को तब चलाता था, जब कि आदमी कोने के पास पहुँच जाता, और उस जगह चट्टान का निचला भाग इस तरह का था, कि घूमकर नीचे गिरते आदमी को सिर्फ मैं और देव लोग ही देख सकते थे। कई घंटे तक एक के बाद एक पार्श्व भट

लुढ़कते रहे, किन्तु, उन्हें किसी तरह का सन्देह नहीं हुआ। उधर देव भी उन लुढ़कते भटों का रहस्य न समझ अपनी चेष्टा से सिर्फ आश्चर्य भर प्रकट कर रहे थे; किन्तु अन्त में सबसे पहिले जिसने रहस्य को जाना, वह देव ही थे; और मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि मेरे छिपने के गुल्म की ओर जो आँखें ताक रही थीं, उनमें क्रोध नहीं स्नेह का भाव प्रतीत हो रहा था। मुझे यह जानकर सन्तोष हुआ कि कमसे कम देव मुझे अपना सहायक तो समझ गये।

“दोपहर तक पार्श्वों को भी नीचे से सूचना मिली कि पचासों पार्श्व वीरों की लाशें वज्र से नीचे की ओर बहती जा रही हैं; किन्तु अभी भी वह निश्चित न कर सके कि उनके सैनिक देवों नहीं मेरे तीर के निशाने बन रहे हैं। उन्होंने समझा देव ही उन्हें मार रहे हैं। अब सेनानी ने सरकने की जगह भी दौड़ने का आदेश दिया; जिसका परिणाम एक ओर जहाँ यह हुआ, कि आधे आदमी फिसल कर वज्र में गिर रहे थे, वहाँ आधे इतनी तेजी से खतरे की जगह पार हो रहे थे, कि मैं उन सब को मार नहीं सकता था; किन्तु उनके मुकाबिले के लिये देव-देवियाँ वहाँ मौजूद थे। अब मैं चुने हुए भटों को अपना निशाना बना रहा था, और बाकी के साथ देव जुझ रहे थे, शाम होते-होते मुझे यह साफ मालूम होने लगा, कि उतनों के मरने के बाद भी पार्श्वों की संख्या अधिक है, और उस मोर्चे पर लड़ा नहीं जा सकता।

“अंधेरा होने के साथ मैंने भी अपने स्थान को छोड़ ऊपर का रास्ता लिया, और देव भी। पार्श्वों ने यद्यपि मोर्चे पर अधिकार कर लिया था, किन्तु अंधेरे में उनके और आदमी नहीं आ सकते थे, इसलिए वह देवों का पीछा नहीं कर सकते थे।

“मैं फिर उसी दो चट्टानों वाले संकरे वज्र-धार पर पहुँचा। मुझे यह देखकर कुछ भय-सा मालूम हुआ, कि चट्टान की आड़ से आकर कोई आदमी मेरे सामने खड़ा हो गया। मैंने समझा, मेरे ऊपर देव-दंड

गिरनेवाला है। किन्तु जरा देर ही में उस व्यक्ति ने अपने एक हाथ को मेरे कंधे पर रखते हुए कहा—‘मानव ! भय मत करो ; देव तुम्हें मित्र के तौर पर स्वीकार करते हैं।’

‘मैं इसे अपना अहो-भाग्य समझता हूँ। नीच पार्श्वों को देव-लोक के विरुद्ध अभियान करते देख मैंने देवों की सहायता की लालसा से यह यात्रा की; किन्तु, मुझे अभी तक संदेह बना था, कि मैं देवों के काम आये बिना उनके हाथ से मारा जाऊँगा।’

‘हाँ, हम देव किसीको अपनी भूमि में आने नहीं देते। मानव आकर हमारी देव-भूमि में अपनी बुराइयाँ फैलायेंगे; इसीलिए हम किसी जीवित मानव को देव-भूमि पर पैर नहीं रखने देते। किन्तु तुमने अपने आचरण से अपने को देवों का मित्र साबित किया है ; इसलिए हम तुम्हारा देव-भूमि में स्वागत करते हैं।

‘पूछने पर उस व्यक्ति ने अपने को देवों का सेनानी या इन्द्र वतलाया, और नाम मघवान्। मघवान् को मैंने वतलाया, कि पार्श्व भटों की संख्या बहुत अधिक है, अभी उनका बहुत थोड़ा-सा भाग यहाँ पहुँच पाया है। इन्द्र ने बड़े विश्वास के साथ कहा—‘यह पहिला मोर्चा बहुत हल्का था, अगले मोर्चे एक के बाद एक प्रबल हैं। हाँ, हम पार्श्वों को सिर्फ हराया नहीं चाहते, बल्कि उनके एक भी भट को जीता लौट कर जाने नहीं देना चाहते। हम पार्श्वों क्या किसी मानव जन के बारे में विशेष ज्ञान नहीं रखते। देव-भूमि से बाहर जाना किसीके लिये क्षम्य नहीं है, इसलिए हम चाहते हैं, तुम इसमें हमारा पथ-प्रदर्शन करो।’

‘इन्द्र की भाषा में मुझे एक अजब तरह की मिठास मालूम होती थी, वह तत्त्वशिला की भाषा से बहुत समानता रखती थी, तो भी उसमें हमारी भाषा से कम शब्द थे। शब्दों के उच्चारण में भी अन्तर था, और उसमें संगीत के स्वर का मिश्रण जैसा मालूम होता था। मुझे देवों

की भाषा समझने में दिक्कत नहीं हुई। हो सकता है इसका कारण यह हो कि मैं बहुत-सी आर्य-भाषाओं को जानता हूँ। मैंने इन्द्र से कहा कि यदि तत्काल कोई काम न हो, तो हम अभी शत्रु से मुकाबिला करने के बारे में विचार करें। इन्द्र ने इस काम को सब से महत्व का बतलाया। मैं देख रहा था, भाषा और भेष में बिल्कुल सीधा-सादा होते भी इन्द्र में समझने की काफी शक्ति थी। उसने कहा—‘हमारे बचाव के लिए मोर्चा-बंदियों में कुछ तो दूर तक सिर्फ एक आदमी के चल सकने लायक खतरनाक सकरी पगडंडियाँ हैं। कहीं कहीं दूर तक ऐसे रास्तों पर ऊपर से हमने पत्थर लुढ़काने के स्थान बना रखे हैं।’ हथियारों के बारे में पूछने पर खड्ग, धनुष, शल्य, गदा का पता लगा। यद्यपि इन हथियारों को देव-शिल्पियों ने नीचे से लाये लोहे से बनाया था, किन्तु वे वह काफी अच्छे। उसी रात को हमने तै कर डाला कि किसको कहाँ कितने भटों के साथ किस तरह से शत्रु से मुकाबिला करना चाहिये।

“मैं समझता हूँ, सिंह ! पार्श्व सेना का किस तरह संहार हुआ इसे जानने की जगह तुम देव-भूमि के बारे में जानना ज्यादा पसंद करोगे ?”

“मुझे तो वह भी रुचिकर होगा, किन्तु शायद मित्र कपिल ! तुम अपनी वीरता का स्वयं वर्णन नहीं करना चाहते; अच्छा तो तुम्हारी जैसी इच्छा।”

“असल बात यह है मित्र ! इन युद्ध-साधनों के साथ पार्श्व-सेना का किस तरह सर्वनाश किया जा सकता है, तुम आसानी से इसे समझ सकते हो। वहाँ यदि कोई विशेष जानने की बात थी, तो यही कि उस युद्ध में देवियों का भाग बिल्कुल समान था—हाँ, यह बतलाना भूल गया, कि उत्तर-कुरु के लोग अपने को देव-जाति का बतलाते हैं, किन्तु देव शब्द के पीछे किसी रहस्य-पूर्ण शक्ति का खयाल उनके दिल में बिल्कुल नहीं है। और वर्षों उनके बीच में रहने के बाद मैंने देखा कि यद्यपि स्वतंत्रता उन्हें प्राणों से प्यारी है, और इसके लिये कितनी ही

बार वह लोहित-पाणि से दिखलाई पड़ते हैं; किन्तु उनके भीतर घुसकर यदि देखा जाय तो वह स्वभाव से बहुत मृदुल, व्यवहार से पूर्णतया सच्चे हैं। शोक, चिन्ता, भय उनके मन पर बालू पर की रेखा की भाँति देर तक ठहर नहीं सकते।”

“देव-देवी होने का उन्हें क्या उस तरह का कोई अभिमान है, जैसा कि हम इन शब्दों के साथ लगाते हैं ?”

“नहीं सिंह ! इसे वह केवल जाति-वाचक शब्द समझते हैं।”

“अच्छा, युद्ध के बाद की उनकी मनोवृत्ति, तथा देवभूमि की और बातों के बारे में बतलाइये।”

“युद्ध में देवों ने अपने एक-एक शत्रु को मारा, मैंने अपनी सामर्थ्य भर सहायता की और अपने को जोखिम में डालकर कितने ही देव-देवियाँ भी खेत आईं। किन्तु जिस दोपहर को यह नर-संहार खतम हुआ, उसी समय उन्होंने वस्तु के हिमशीत जल में अपने शरीर और चर्म-परिधान को धो डाला। उनकी वर्ण-श्री को क्या पृच्छते हो, उसकी उपमा तो थोड़ी बहुत हमारी रोहिणी हो सकती है—उनके केश अधिक पिंगल, उनके नेत्र अधिक नील, आकार हममें से अधिक बड़े स्त्री-पुरुषों के बराबर होता है। देव और कराना नहीं जानते। मुझे तो जान पड़ता है, लोहे का उपयोग भी उन्होंने बहुत पीछे शत्रुओं के प्रहार से बचने के लिये किया है। हड्डी के हथियार को वह अब भी इस्तेमाल करते हैं।”

“और परिधान ?”

“परिधान के बारे में कह चुका हूँ, वह सिर्फ चमड़े को परिधान के तौर पर इस्तेमाल करते हैं ; उसे भी कंचुक नहीं चादर के तौर पर, जैसा कि मैं पहिले बतला आया हूँ। गर्मी लगने पर देव या देवी किसी तरह का परिधान अपने शरीर पर नहीं रखते, उस वक्त देवों की केश-दाढ़ियाँ तथा देवियों के सीमन्त अग्निस्कंध से निकलती ज्वालारश्मियों से मालूम होते हैं। और सौन्दर्य ? वह तो देव-कन्याओं में ही

है, उनकी उपमा मानवियों में मिलना मुश्किल है। वहाँ सभी रोहिणियाँ हैं, यह कहकर हम उस सौन्दर्य-राशि के कुछ पास तक पहुँच सकते हैं।

“विजय के दिन शाम होने से पहिले ही, भुँड के भुँड देवकुमार और देवकन्याएँ मधु, क्षीर और मृगमांस लेकर पर्वत-पृष्ठ के एक विस्तृत हरित मैदान पर एकत्रित होने लगे। एक ओर लकड़ी की आग पर माँस भुना जाने लगा—देव अग्नि को बड़ी हिफाजत से रखते हैं, और बुझ जाने पर दो लकड़ियों को घिसकर उसे पैदा करते हैं। एक जगह नर्म चमड़े को बिछाकर उसपर हरित सोम [भाँग] पत्थरों पर पीसा जा रहा था—द्राक्षा के जंगल के होने पर भी देव सुरा बनाना नहीं जानते, और मिलने पर शायद वह उसे पसंद भी न करते। इस बीच में भी देव-तरुण-तरुणियों का गान शुरू हो गया था, किन्तु लघु भोजन और सोमपान के बाद जो देवों का नृत्य उस रात को मैंने देखा, वह सदा स्मरण रहने की चीज है। हम गंधार भी नृत्य-संगीत के बड़े प्रेमी समझे जाते हैं, किन्तु देवों के बाद ही मैं कहूँगा। इन्द्र की कृपा से वह सारी नृत्य-मंडली मेरे बारे में जान गई थी, इसलिये देव-कन्यायें मंडल बांधकर मुझे बीच में लिये नाच रही थीं। बीच-बीच में जब मैं थक कर विश्राम लेता, तो मधु-क्षीर-मिश्रित सोम का चषक ले देवांगनायें आदर-पूर्वक मुझे पिलाने के लिये तैयार रहतीं।

“मैंने तो साफ देखा, इस एक रात के नृत्य ने उनके दिल से युद्ध के सारे प्रभाव को धो डाला। दूसरे दिन तो मालूम ही नहीं होता था, कि वह एक बड़े युद्ध से होकर गुजरे हैं—जिसमें हजारों देव-देवियों ने अपने प्राण खोये हैं। लेकिन इतना जल्दी इसे भूल जाने का दूसरा भी जबरदस्त कारण है।—”

“क्या हृदय की निष्ठुरता?”

“नहीं, सिंह! देवों के पास निष्ठुर होने के अवसर बहुत कम हैं। देव जीवन को और केवल जीवन को अपनी वस्तु समझते हैं। सोम

पीकर अमर होने की बात गलत है, यद्यपि सोम देवों का प्रिय पान है, इसमें सन्देह नहीं। वस्तुतः उनके इस अमर-आनन्दमय जीवन का रहस्य है, उनका व्यक्ति के तौर पर निर्मम और निष्परिग्रह होना, जिसका इशारा मने शुरू में किया था।—देवों में अलग-अलग परिवार नहीं होते।”

“तो क्या सभी परिवार इकट्ठा ही रहते हैं ?”

“नहीं, उनमें परिवार ही नहीं है, या यों कहिये, सारा देवलोक एक परिवार है।”

“और व्याह-शादी ?”

“इसके बारे में उनकी प्रथा को सुनकर मानव नाक-भौं सिकोड़ेंगे, किन्तु जिसने देव-भूमि के नजारे को अपनी आँखों से देखा है, उसे उसमें कोई दोष नहीं मालूम होगा। वहाँ, प्रत्येक देवी उन्मुक्त देवी है, वह किसीकी भार्या नहीं। वह पद्मसर में विहरनेवाली भ्रमरी है, और चाहे जिस भी पद्मकोश में रात को बंद होने के लिये स्वतंत्र है, उसी तरह देव भी स्वच्छन्द हैं ; किन्तु यह स्वच्छन्दता देव-समाज की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती। किसी देव का अपना पुत्र नहीं—या अपना कहने के लिये पुत्र नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न समय में भिन्न-भिन्न अंकशायिनी देवांगना के गर्भ से प्रसूत देवशिशु को किसका पुत्र कहा जाय। किन्तु, इससे देवशिशु पिता के स्नेह से वंचित नहीं होता ; बल्कि उसे कई गुना अधिक पाता था। मैं भी ढाई वर्ष तक देव-भूमि में रहा। एक से अधिक देव-कन्याओं के प्रेम का भाजन बनने का मुझे अवसर मिला, और मैं समझता हूँ, इन वर्षों में पैदा होनेवाले शिशुओं में मेरा भी कोई औरस रहा होगा, किन्तु उसके जानने के लिये कोई साधन नहीं। मैं देखता था, किसी देव-शिशु को देख देव बिना उसे अंक में ले के चुंबन दिये आगे नहीं बढ़ता—उस समय वह ठीक वैसे ही पुलकित शरीर हो, पुत्र-स्नेह अनुभव करता है, जैसे मानव अपने

शिशु के साथ । मुझे पहिले यह बात कुछ अनोखी-सी मालूम होती थी, किन्तु पीछे बिल्कुल स्वाभाविक-सी जँचने लगी ।

“क्या यह यूथ-विवाह पशु-सा नहीं जँचता ?”

“यहाँ से सोचने पर वह पशुवत् भले ही जँच सकता है, किन्तु वहाँ सौम्य ! आँखों देखने पर एक दिव्य दृश्य-सा मालूम होता है । हर-एक तरुण दूसरे तरुण का एक पितृज भाई, वैसे ही सभी तरुणियाँ परस्पर स्वसा [बहिन], हरएक शिशु हरएक वयस्क का स्वकीय पुत्र या दुहिता, हरएक वृद्ध-वृद्धा, दादा-दादी, हरएक समवयस्क देव-देवी अकाम होने पर भाई-बहिन, कामना होने पर प्रेमी-प्रेमिका । लेकिन, प्रेम वहाँ एकतरफा नहीं हो सकता । झूठ और बलात्कार देवलोक के अज्ञ-न्तव्य अपराध हैं ।

“प्रेम में बलात्कार ही नहीं, प्रलोभन के लिये भी कोई स्थान नहीं है । वस्तुतः वहाँ प्रलोभन का कोई साधन ही नहीं है, क्योंकि मृगया, पशु-पालन, मधु-संचयन से जो कुछ मिलता है, वह सबकी सम्मिलित सम्पत्ति है । उस देव-जीवन की मधुरता को शब्दों में वर्णित नहीं किया जा सकता, किन्तु सारी देव-भूमि, उसके देव-समाज के स्वरूप को अपने मन पर चित्रित कर यदि हम देखने की कोशिश करें, तो उसकी दिव्यता का तुम कुछ अनुमान कर सकते हो ।”

“फिर सौम्य कपिल ! देव-भूमि को तुमने छोड़ा क्या ?”

“यह कहो कि उस दिव्य-भूमि की विभूति को मानवों के सामने रखने के लिये व्याकुल हो गया, या यह कहो कि उस देवलोक के अस्तित्व को मानवलोका से माँगे उसी लोहे के ऊपर निर्भर समझा, जिससे मुझे वह निर्बल नाँव की भीत-सा जँचा ।—यद्यपि वह नाँव तुरन्त या मेरे जीवन में भसक जानेवाली नहीं मालूम होती थी । या मानव के पौरुष की जगह केवल पहाड़ नदियों की सहायता के भरोसे पर टिका वह जीवन मुझे पीछे उतना आकर्षक नहीं लगा । यह भी कह सकते हैं कि बन्धु-

बान्धवों का वैयक्तिक स्नेह वहाँ मुझे बेचैन करने लगा। अथवा कह सकते हैं, सभी बातों ने मिलकर मेरे मन को वहाँ से उचाट कर दिया। किन्तु मैं चोरी से नहीं आया।”

“तो सौम्य ! उन्होंने तुम्हें रखने पर जोर नहीं दिया ?”

“प्रेम का जोर जरूर दिया, बलात्कार करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध है, खासकर मित्रों के ऊपर। देव-कन्याओं को जब मालूम हुआ कि उनका मानव-वीर अपने देश को जाना चाहता है, तो मत पूछो सौम्य ! उनके प्रेम-जाल के भारी विस्तार के बारे में। वह मुझे पुष्पित वन में ले जातीं, वहाँ अपने केशों को वन-कुसुमों से सजाकर मेरे गिर्द बैठ कोई मेरे कानों में फूल रग्वती, कोई केशों में सज बाँधती, कोई मेरे कंधे पर अपने कपोलों को रख पूछती—‘प्रिय ! कैसी हैं वह मानवियाँ, जिनके लिये तुम हमें छोड़ जाना चाहते हो ?’ मुझे उनके प्रश्नों का जवाब नहीं सूझता था। मैं कैसे कह सकता था कि मुझे एक अपनी अलग देवांगना चाहिये, एक अलग पुत्र चाहिये, एक अलग घर चाहिये, एक अलग रेवड चाहिये। मैं तो उनके सम्मिलित देव-परिवार को ईर्ष्या की चीज समझता था, और अब भी समझता हूँ; यद्यपि हमारी भूमि में उसे लाने के लिये प्रयत्न करना सर्वथा निष्फल होगा। उनकी सौम्य सुन्दर मूर्तियाँ, उनके मधुर व्यवहार ने कितने ही मासों तक अपने संकल्प को स्थगित रखने के लिये मुझे मजबूर किया। और पुरुषों की विशेष कर मेरे मित्र इन्द्र की विलकुल इच्छा न थी कि मैं देव-भूमि को छोड़ूँ।

“अन्त में जब वहाँ से चलना ही तै कर लिया, तो देव-भूमि की रक्षा के लिये मैं इन्द्र तथा प्रमुख देव-पितरों और देव-माताओं से कितने ही सप्ताहों तक वार्तालाप करता रहा।—देव-भूमि [उत्तर कुरु] में लिखने की कोई बात ही नहीं जानता, इसलिये यद्यपि उनके लिये कुछ लिख छोड़ना बेकार था, तो भी मैंने भविष्य की देव-सन्तानों के लिये भोजपत्र पर जो कुछ लिखकर एक गुफा में छोड़ा है, वह वही था, जिसे

मैंने अपने देव-बन्धुओं से कहा था। पहिली बात मैंने यह कही कि उन पर जो भारी आक्रमण दारायोश् ने किया, उसके प्रतिकार में उस लोहे का जबर्दस्त हाथ है, जिसे देव खुद अपनी चीज मानने से इनकार करते हैं। यदि लोहा न होता, तो हड्डी, पत्थर या लकड़ी के हथियारों के सहारे से वह पार्श्वों को भगा न सकते थे। उनके ऊपर यह अन्तिम आक्रमण नहीं है, कादली मृग की उद्गम भूमि पर फिर-फिर लोग लालचभरी नजर दौड़ायेंगे; और उसके लिये उन्हें मानव-लोक में पैदा होनेवाले हर एक हथियारों को अपनाना होगा। हाँ, यह डर यथार्थ है कि बाहरी जगत् से अधिक संपर्क होने से देव-भूमि का देव-धर्म [सामाजिक व्यवस्था] अपरिशुद्ध हो जायगा। मुझे इसका कोई उपाय नहीं सूझा, इसलिये एक तरह कह सकता हूँ कि भोजपत्र पर जिस उपाय को मैंने लिखा है, वह व्याधि की पूरी दवा नहीं है।”

“तो भी सौम्य ! तुमने अपनी शक्ति भर उनके हितचिन्तन की चेष्टा तो की।”

“हाँ, दिल से। वह आज स्वप्नलोक-सा मालूम होता है, किन्तु तीन ही वर्ष पहिले इन आँखों ने उस दृश्य को देखा था। उस वक्त वह स्थूल-सा मालूम होता था, किन्तु आज कोई दिव्य दृश्य-सा मालूम हो रहा है। वहाँ आनन्द था, किन्तु कामुकता नहीं थी, यह न समझें कि स्त्री-पुरुष एक दूसरे को सिर्फ नेत्र से देख लेने पर सन्तोष करते थे। नहीं, वहाँ परिष्वंग भी होता था, पुरुष-स्त्री समागम भी होता था, किन्तु मालूम होता था उन सबमें उस नीच भावना का कहीं पता नहीं है, जिसे हम— “मैं और मेरे” वाले मानवों में देखते हैं। उस ईर्ष्या-शून्य, कपट-शून्य समाज में बिना सीमा-रेखाओं की मर्यादायें बँधी हुई थीं, जो हर क्रिया, हर एक मनोभाव को नीचे के तल पर गिरने नहीं देती थीं। मैं इन बातों को उस वक्त भी अनुभव करता था, किन्तु तो भी देव-भूमि के परित्याग के संकल्प को न जाने क्यों दूर नहीं कर सका।”

“क्या उसमें पार्श्वों से प्रतिशोध लेने की भावना तो काम नहीं कर रही थी।”

“...शायद तुम ठीक कह रहे हो, सिंह ! पार्श्व नाम मेरे कानों में शूल सा, मेरे कलेजे में बिच्छू के डक-सा गड़ता है—पार्श्वों ने हमारे स्वतंत्र गंधार के आधे भाग को परतंत्र बनाया, इसे भूलना मेरे बस से बाहर की बात है। और पार्श्व नाम देवभूमि में भी कभी-कभी बलात् मेरी जवान पर आ जाता था। मैं जिस वक्त देवभूमि को छोड़ रहा था, उस वक्त बाल-वृद्ध सभी देव-देवांगनाओं के नेत्र सजल थे, जान पड़ता था कोई उनका अपना छूट रहा है। मैं मर गया होता, तो वह उतना अफसोस न करते, यह मुझे विश्वास है, क्योंकि उनके प्रेम का भाजन जीवन होता है। मुझे आज भी यह सन्तोष है, कि देव-पितर अपनी सन्तानों को कपिल के साथ तक्षशिला का नाम सुनायेंगे। कपिल नाम तो जल्दी भूल जायगा, किन्तु तक्षशिला जरूर उनके स्मृतिपटल पर चिरस्थायी बनकर रहेगी।”

“सौम्य कपिल ! उत्तर कुरु—देवभूमि—वस्तुतः बड़ी मनोहर होगी।”

“और देवकन्यायें भी सौम्यकपिल !”—रोहिणी ने पीछे से कहा। वह भी चुपचाप कथा सुन रही थी।



(६)

तक्षशिला का नागरिक और विवाह

तक्षशिला मेरा कुछ विशेष स्वागत करने जा रही है, इसकी भनक मुझे कुछ पहिले मिल चुकी थी, किन्तु उसके लिये लोग मेरे स्वस्थ होने का इन्तिजार कर रहे थे । इस अस्वस्थता की अवस्था में भी मैं बर्ताव में कुछ विशेषतायें देख रहा था । जहाँ तक आचार्य, आचार्यपत्नी का संबंध था, वह तो मुझे अपने पुत्र-सा अपने परिवार का व्यक्ति समझते थे । हाँ, तक्षशिला के गणपति [राष्ट्रपति] से लेकर कितने ही साधारण नागरिक तक मेरे प्रति स्नेह और सहानुभूति प्रदर्शन करने आते थे ।

पार्श्वों ने हमारी विजय को स्वीकार किया था, वह अपने सेनापति (मज्ददाद) तथा दूसरे सैनिकों को छुड़ाने एवं तक्षशिला के साथ सुलह करना चाहते थे । पहले हमने चाहा कि पश्चिम गंधार को स्वतंत्र कराने का यही अवसर है, और हमारी सेनायें उसकी राजधानी पुष्कलावती में पहुँचकर हमारे काम को आसान कर चुकी थीं, किन्तु जब वहाँ के नागरिकों की सम्मति तथा दूसरी बातों पर विचार किया गया, तो मालूम हुआ कि जब तक पार्श्वों के सैन्यबल को विलकुल निर्बल न कर दिया जाय, सिर्फ तक्षशिला के बल पर पुष्कलावती को स्वतंत्र नहीं किया जा सकता । अन्त में यही ठहरा, पार्श्वों ने तक्षशिला को हानि पहुँचाने के लिये कुछ दंड भी दिया, और इस प्रकार उनके साथ संधि हो गयी । मज्ददाद और दूसरे पार्श्व लौटा दिये गये, इसके बतलाने की आवश्यकता नहीं ।

मैं विलकुल स्वस्थ हो चलने फिरने लगा था, जब कि एक दिन शाम को आचार्य ने कहा—

“पुत्र सिंह ! कल तुम्हें सस्थागार [प्रजातंत्र-भवन] में चलना है, वहाँ तक्षशिला तुम्हारा स्वागत करेगी।”

“आचार्य ! अभी तक तक्षशिला ने मेरे साथ जो व्यवहार किया, क्या वह स्वागत नहीं है।”

“उसे वह पर्याप्त नहीं समझती। और तुम्हें अपने सैनिक वेश में चलना होगा। मैंने कवच आदि की मरम्मत करवा दी है।”

मैंने शिर नीचा कर आचार्य के वचन को स्वीकार किया।

उस रात को रोहिणी के साथ कल के बारे में बातचीत होती रही। मैं देख रहा था, वह किसी बात को मुझसे छिपाना चाहती है, किन्तु मैंने उसे जानने के लिये ज्यादा आग्रह नहीं किया। आखिर मैं समझता था, रोहिणी के हृदय की बात जल्दी या देर में मेरी होकर रहेगी। रोहिणी ने मेरे कवच, खड्ग आदि को ले आकर दिखलाया। उन्हें नया-सा बना दिया गया था। उस रात जल्दी ही रोहिणी, यह कह कर चली गई, कि तुम्हें कल बहुत सवेरे उठ कर सब तैयारी करनी होगी, सबेरे सो जाओ।

दूसरे दिन सबेरे मैंने एक बार देखा कि रोहिणी स्नानागार से नहा कर अपने लंबे केशों को सूखे कपड़े से पोछती निकल रही है। यद्यपि यह प्रति दिन की बात जैसी न थी, तो भी मुझे पूछने का अवसर नहीं हुआ। मैं प्रातराश से निवृत्त हो चारपाई पर बैठे कवच पहिनने की बात सोच रहा था; फिर देखता हूँ रोहिणी मेरे कमरे में दाखिल हुई। वह सुंदर कौशेय तथा काशिक वस्त्रों के उत्तरीय, अन्तरवासक और कचुकी से सज्जित थी। उसके सुनहले केश पीठ पर बिखरे पड़े थे, किन्तु उन्हें ताजे फूलों से बड़ी सुन्दरता के साथ सजाया गया था। चेहरे पर हल्का-सा वर्ण-चूर्ण लगा हुआ था। आभूषण में सिर्फ गले में तिलड़ी मुक्ता-माला, और कानों में सुवर्णकुंडल थे। मैं चारपाई से तुरन्त खड़ा हो, पास आयी रोहिणी के मुख की ओर एकटक निहारता

रहा। रोहिणी ने लाल अश्रुओं और नीले नयनों पर हास की रेखा लाकर कहा—“क्यों, क्या कोई नयी बात है?”

“रोहिणी! तुम मेरे लिये सदा नयी हो, तुम कभी पुराण नहीं हो सकती। किन्तु, आज कुछ विशेष बात मालूम होती है।”

“विशेष बात तो जरूर है, आज तक्षशिला जो तुम्हें अपना सबसे बड़ा सम्मान प्रदान करेगी, फिर मेरे लिये आज का दिन महोत्सव क्यों न होगा?”

“लेकिन, रोहिणी! तुम्हें मुक्ताहार और सुवर्ण-कुंडल पहिने कभी नहीं देखा?”

“माँ ने आज इन्हें पहिनने के लिये दिया।”

“किन्तु, क्या मैं तुम्हारे पास आ सकता हूँ?”

“क्या तुम इसके लिये हर बार मुझसे आज्ञा लिया करते थे?”

“किन्तु, आज आज्ञा माँगने का जी करता है। आज डर लगता है, मेरे श्वासवायु से तुम्हारे कोमल केश कहीं अस्तव्यस्त न हो जायें, मेरे कर्कश कलुपित हाथों से तुम्हारे उत्तरीय पर दाग न लग जाय, मेरे शरीर-स्पर्श से तुम्हारी सजा विकृत न हो जाय।—”

“रहने दो अपनी कविता को” रोहिणी ने अपने कपोलों को अधिक लोहित करते हुए कहा “मैं बनाव-सजाव नहीं करना चाहती थी, माँ ने मेरी इच्छा न रहने पर भी अपने हाथों से मुझे सजित-भूषित किया है। जान पड़ता है, तुम्हें पसन्द नहीं आया।”

“पसन्द? पसन्द बहुत है, किन्तु सिर्फ नेत्रों से देखकर मुझे तृप्ति नहीं हो सकती।”

“तो, क्या मर्जी है।”

“मर्जी तुम खुद समझती हो—एक चुम्बन एक गाढ़ालिंगन।”

रोहिणी ने मेरे सिर पर हाथ रख, मेरे ओठों पर अपने ओठों को धीरे-से रख दिया। फिर शनैः-शनैः हटाकर कहा—“चुम्बन जितने चाहो

उतने, किन्तु आर्लिगन अभी नहीं, माँ के हाथ की सजावट बिगड़ जायगी। मुझे महोत्सव में चलना है।”

मैंने चुम्बनों को दुहराने पर ही सन्तोष किया।

मैं कवच, शस्त्रास्त्र धारण कर तैयार हो गया; उसी वक्त आचार्य और आचार्यपत्नी आ गये। वे भी आज उत्सव के किन्तु विनीत वेप में थे। आचार्य ने मेरा हाथ पकड़ा, माताजी ने रोहिणी का और हम कमरे से बाहर हो गये।

आचार्यकुल के सभी विद्यार्थी, सभी कर्मकर आज उत्सववेप में थे, और जब हम दोनों घर से संस्थागार की ओर चले, तो सभी पुरुष हमारे पीछे-पीछे हो लिये। संस्थागार अभी कुछ दूर ही था, तभी गण-पति रोहिताश्व ने सेनापति तथा कुछ अन्य सदस्यों के साथ मेरा स्वागत किया; फिर मेरी, वेणु तथा दूसरे वाद्यों के स्वर के साथ अस्त्र-शस्त्र सज्जित गांधार भटों के घेरे में हम संस्थागार में पहुँचे। वहाँ गण-संस्था के हजार सदस्यों ने तक्षिला और सिंह के जयघोष के साथ अभ्युत्थानपूर्वक मेरा स्वागत किया। फिर संस्थागार में बिछे महार्घ कम्बल [कालीन] पर सभी बैठ गये। गणपति ने एक सिरे पर रखे अपेक्षाकृत कुछ ऊँचे अपने [सभापति के] आसन को ग्रहण करते हुए अपनी दाहिनी ओर मुझे बैठने का आदेश किया। मेरी दाहिनी ओर आचार्य भी बैठ गये।—कवच के साथ वीरासन ही में बैठा जा सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

गणपति रोहिताश्व के खड़े होते ही शाला में सन्नाटा छा गया। गणपति ने कहा—

“भन्ते [पूज्य] गणः ! सुनें। आपको आयुष्मान् सिंह का पराक्रम अविदित नहीं है। तक्षिला के शत्रु पार्श्वों को परास्त करना इन्हीं का काम है। इन्हींके कौशल से शत्रुवाहिनीपति जीवित बंदी बनाया गया। आज सिंह का यशोगान, उनकी वीरगाथा सारे पूर्व पश्चिम गंधार

में गाई जाती है। ऐसे हितकारी अपने वीर सेनानी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना हमारा कर्त्तव्य है। आज यह गण-समागम उसीके लिये हुआ है, यह आपको मालूम है। आपके गण की नायक-परिपद् ने नागरिकों के मनोभाव को जानकर कृतज्ञता प्रकट करने का एक उपाय सोचा है, जिसे हमारे सेनापति प्रियमेश्वर भन्ते गण के सामने उपस्थित करेंगे। गण के दूसरे सदस्य भी यदि इसके बारे में कोई और बात पेश करना चाहें तो कर सकते हैं।”

गणपति के बैठ जाने पर सेनापति प्रियमेश्वर खड़े होकर बोले—

“भन्ते गण ! सुनें। आयुष्मान् सिंह ने हमारे गण की जो सेवा की है, उस ऋण से उन्मृण होने के लिये गंधार-गण आयुष्मान् सिंह को गंधार नागरिक स्वीकार करता है, आज से आयुष्मान् सिंह को वह सारे अधिकार-प्राप्त होंगे, जो कि तक्षशिला के गंधार-पुत्रों को ही प्राप्त होते हैं। साथ ही यह गण आयुष्मान् सिंह को अपनी गण-संस्था का आजन्म सदस्य निर्वाचित करता है।”

ज्ञप्ति [प्रस्ताव-सूचना] देने के बाद सेनापति बैठ गये, फिर गण-पति ने कहा—

“भन्ते गण ! सुनें। हमारे सेनापति ने आयुष्मान् सिंह को तक्षशिला का नागरिक तथा गणसंस्था-सदस्य बनाये जाने के बारे में जो ज्ञप्ति दी, उसे भन्ते गण ने सुना। सेनापति की ज्ञप्ति को जो आयुष्मान् स्वीकार करते हैं, वह चुप रहें, जो नहीं स्वीकार करते वह बोलें।”

पहिली बार पूछने पर कोई नहीं बोला। फिर गणपति ने कहा—
“दूसरी बार भी भन्ते गण ! सुनें। हमारे सेनापति ने आयुष्मान् सिंह को तक्षशिला का नागरिक तथा गणसंस्था-सदस्य बनाये जाने के बारे में जो ज्ञप्ति दी, उसे भन्ते गण ने सुना। सेनापति की ज्ञप्ति को जो आयुष्मान् स्वीकार करते हैं वह चुप रहें, जो नहीं स्वीकार करते वह बोलें।” गण की ओर एक बार नजर दौड़ाकर गणपति ने फिर कहा—

“तीसरी बार भी भन्ते गण ! सुनें । हमारे सेनापति ने आयुष्मान् सिंह को तक्षशिला का नागरिक तथा संस्था-सदस्य बनाये जाने के बारे में जो ज्ञप्ति दी, उसे भन्ते गण ने सुना । सेनापति की ज्ञप्ति को जो आयुष्मान् स्वीकार करते हैं वह चुप रहें, जो नहीं स्वीकार करते वह बोले ।”

गण में से किसीको बोलते न देख गणपति ने कहा—

“भन्ते गण चुप हैं, जिसका अर्थ है उसे आयुष्मान् सिंह का तक्षशिला का नागरिक तथा गण-संस्था का सदस्य बनाया जाना स्वीकृत है, ऐसा में धारण करता हूँ ।”

ज्ञप्ति-स्वीकार की घोषणा पर गण ने तुमुल हर्षध्वनि की । फिर गणपति ने कहा—

“आयुष्मान् सिंह ! तुमने यह सम्मान अपनी वीरता, अपने खून से अर्जित किया है । अब तुम हमसे एक हो । तुम्हें वह सारे अधिकार प्राप्त हैं, जो हमारे गण के प्रत्येक नागरिक तथा इस गण-संस्था के प्रत्येक सदस्य को प्राप्त हैं । तुम यदि इस भन्ते गण के सामने कुछ कहना चाहते हो, तो कह सकते हो ।”

मुझे यदि इस सम्मान की खबर पहले से मालूम हुई होती, तो मैं अपने को कुछ तैयार करके रखे होता । इस वक्त हर्षातिरेक से भावों के तूफान मेरे हृदय में उठ रहे हैं । मुझे भय मालूम होता था, कि मैं संयम के साथ कुछ न बोल सकूँगा, तो भी मुझे बोलना जरूरी था । मैंने खड़े हो गण की ओर अंजलि जोड़ कहा—

“भन्ते गण ! मेरी सुनें । सात वर्ष से कुछ अधिक हुआ, जब मैं तक्षशिला आया । मेरे लिए उसी वक्त से तक्षशिला की गोद खुली हुई थी । मैंने यहाँ सिर्फ वात्सल्यपूर्ण स्नेह और प्रेम पाया । कोई कड़वा क्षण मुझे यहाँ स्मरण नहीं । मैं तक्षशिला को पा वैशाली-वियोग भूल गया । समय बीतते के साथ अपने आचार्य के कथन—‘वैशाली पूर्व की

तक्षशिला है’—की सत्यता पर मेरा पूर्ण विश्वास हो गया, और मुझे तक्षशिला वैशाली से अभिन्न मालूम होने लगी। मैं दिल से अपने को तक्षशिला का पुत्र समझने लगा। तक्षशिला के लिये प्राणोत्सर्ग करना मेरे लिए उतनी ही हर्ष की बात थी, जैसी कि वैशाली के लिये। भन्ते गण ! आप में से कितने ही आयुष्मानों को मालूम होगा, कि प्राची में कुरु, वत्स, कोसल, मगध आदि के कितने ही राजे हैं, जहाँ अनार्य रीति से शासन होता है। वहाँ देव-परिपद् तुल्य यह गण-संस्था देखने में नहीं आती, वहाँ तो राजा मनमाना शासन चलाता है, वैसे ही जैसे पार्श्व शासानुशास [शाहशाह]। किन्तु उनके बीच वैशाली का लिच्छविगण ही ऐसा देश है, जहाँ आर्य स्वतंत्र मानव की भाँति बिना राजा के अपना सम्मिलित शासन—गण-शासन—को चलाते हैं। मैंने कोसल में अपने को अजनबी समझा, कुरु में भी विदेशी समझा, किन्तु तक्षशिला में आकर बहुत जल्द समझ में आने लगा, कि मैं अपनी वैशाली में आ गया हूँ। इसलिए, भन्ते गण समझ सकता है, कि मैंने जो कुछ किया वह वैशाली की प्रेरणा से किया। इसका सारा श्रेय, सारा यश वैशाली को मिलना चाहिये। और आपने जो महान सम्मान, तथा अत्यन्त दुर्लभ अधिकार मुझे प्रदान किया है, उसे मैं वैशाली के गौरव के तौर पर स्वीकार करते हुए आपका चिरकृतज्ञ रहना चाहता हूँ ; और यह भी लालसा रखता हूँ, कि तक्षशिला की सेवा का कोई अवसर मेरे हाथ से जाने न पाये।”

मेरे बैठ जाने पर हर्षध्वनि हुई, और एक प्रमुख गण-सदस्य शोभित ने उठ कर कहा—

“भन्ते गण ! अपने वीर पुरुष को हमने वह उच्च सम्मान दिया, जिसके देने का हमें अधिकार है। किन्तु, इस अवसर पर हमें प्राची की तक्षशिला वैशाली के प्रति भी अपना सम्मान प्रदर्शित करना चाहिये। इसके लिए मैं भन्ते गण के सामने प्रार्थना करूँगा, कि वह यहाँ से एक

नागरिक मंडल वैशाली भेजे और उमके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित करते हुये दोनों गणों को चिरबंधुता के सूत्र में बांधे ।”

गणपति ने गण के सामने इसे भी उपस्थित किया, और सबने इसे स्वीकृत किया ।

इस वक्त जब कि गण-सदस्य हर्षात्कुल हो, आपस में कुछ धीरे-धीरे बोल रहे थे, आचार्य बहुलाश्व का मुँह थोड़ी देर के लिये गण-पति के कानों पर रहा । फिर गणपति के खड़ा हो “भन्ते गण ! सुने” के कहने के साथ शाला में नीरवता छा गयी । गणपति ने कहा—

“मैं आपको एक हर्ष का समाचार सुनाता हूँ । हमारे आचार्य बहुलाश्व की तृणी कन्या रोहिणी—जिसने स्वयं पार्श्व युद्ध में बहादुरी दिखलायी—ने आयुष्मान् भिह को अपने प्रेम का पात्र चुना है । आचार्य बहुलाश्व इस प्रेम का अनुमोदन करते हैं और मुझे यह सुनकर बहुत हर्ष हुआ है ।”

इसपर चारों ओर से आवाज़ आने लगी ।—“रोहिणी और सिंह का पाणिग्रहण यहाँ हमारे सामने हो ।”

उम वक्त रोहिणी दूसरी नारियों के बीच वक्ष-कोष्ठक [गैलरी] में बैठी थी; हर्ष और लज्जा से उसका मुँह रक्त हो गया, किन्तु गणपति के आदेश को कैसे इन्कार कर सकती थी । थोड़ी ही देर में देखा गणपति के आसन के पीछेवाले द्वार से अपनी माँ के पीछे-पीछे अवनत-मुखी रोहिणी आ रही है । शाला के भीतर बैठी हुई दो हजार दृष्टियों के भार से, जान पड़ता था, वह दबी जा रही है । उसके फूलों से सजाये लम्बे स्वर्णकेश अब भी उसकी पीठ की ओर बड़ी सुन्दर तौर से फँके हुए थे; धीरे-धीरे चलने पर भी उसके कुंडल मंद-मंद हिल रहे थे ; बीच-बीच में श्वास लेना भूल जाने से उसका स्तनभाग अधिक उन्नतावनत हो रहा था । मैं वपों से रोहिणी के बढ़ते हुए सौन्दर्य को यद्यपि देखता आ रहा था, किन्तु उस दिन सचमुच मुझे वह मानवी नहीं उत्तरकुरु की अप्सरा-

सी जान पड़ रही थी और उसके सामने मैं अर्किचन-सा । इस महालाभ को देख अपने को धन्य-धन्य समझ रहा था ।

रोहिणी गण-पति के आसन के पास आकर खड़ी हो गई । गणपति और आचार्य के खड़े होने पर मैं भी खड़ा हो गया । फिर आचार्य ने रोहिणी के हाथों को मेरे हाथों में दे दिया । शाला में हर्ष-ध्वनि हुई । तक्षशिला और वैशाली का जय-जयकार किया गया । गणपति ने अगला दिन नक्षत्र-दिन [उत्सव-दिन] घोषित किया । फिर आगे-आगे गणपति, उसके पीछे मैं और रोहिणी, फिर आचार्य तथा दूसरे सदस्य शाला से बाहर हुए । बाहर, जान पड़ता था, सारी तक्षशिला उठकर चली आई है । बाजे के साथ हम नगर में होते अपने निवास पर आये, जहाँ हमें छोड़ सभी लोग लौट गये ।

उसी शाम को तक्षशिला के तरुण-तरुणियों की भीड़ हमारे आँगन में एकत्रित हो गई, और उन्होंने हम दोनों को बीच में कर विवाह-महोत्सव मनाना शुरू किया—जिसमें मधुर मांस और श्रेष्ठ सुरा के खान पान के बाद नृत्य और गान प्रधान बातें थीं । वहाँ एकत्रित हुई तरुणियाँ एक से एक सुन्दर थीं । जान पड़ता था सौन्दर्य को राशि करके इकट्ठा कर दिया गया है ; और उनके भीतर मेरी रोहिणी पोड़श कलापूर्ण चन्द्रमा-सी जान पड़ती थी । नृत्य में वर-वधू का नाचना भी अनिवार्य ठहरा, और हम दोनों को इसके लिये लज्जित होने की जरूरत न थी, क्योंकि हम उसमें किसीसे पीछे रहनेवाले न थे । रात थोड़ी-सी रह गई थी, जब सखी, सहेलियों की पलके भारी होने लगीं, और उधर सुरा का भी असर हुआ, इस प्रकार हमें छुट्टी मिली ।

रोहिणी की पलकें भी भारी थीं, और मेरी भी आँखें झपकी जा रही थीं, जब कि हम अपने शयन-कक्ष में पहुँचे ।

× × × × ×

तक्षशिला से प्रस्थान

रिपुंजय डेढ़ साल का हो गया था, और दौड़ता फिरता था । माँ-बाप से ज्यादा वह नाना-नानी को प्यार करता था, और माँ की देखा-देखी नानी को अम्मा कह कर पुकारता था । वैशाली को जानेवाला तक्षशिला का नागरिक-मंडल मेरे लिये रुका हुआ था । मेरे मित्र कपिल—जो कि इस नागरिक-मंडल के नायक बनाये गये थे—आज-कल करते सवा दो वर्ष से प्रतीक्षा कर रहे थे ; किन्तु, अब और अधिक देर करने का मतलब था, कपिल की जगह किसी दूसरे को प्रमुख बनाना । कपिल उन आदमियों में थे, जिन्हें अधिक समय तक एक जगह बाँधा नहीं जा सकता । आचार्य और स्वाम कर माताजी से चलने की बात करना बड़े साहस की बात थी । पहिले इसे सोचते ही सोचते रोहिणी ने गर्म-चिह्न स्फुट हो गये, और ऐसी अवस्था में साठ योजन की संकटपूर्ण यात्रा करना उचित नहीं था । रिपुंजय के अत्यन्त छोटे होते वक्त भी वही कठिनाई थी ; किन्तु जब वह सालभर का हो गया, तो मैंने आचार्य से चर्चा चलायी । आचार्य बड़े ही दूरदर्शी और दूसरे के भावों की परख रखनेवाले व्यक्ति थे । उन्होंने पहिले ही दिन कहा—

“पुत्र ! मैं तुमसे सहमत हूँ । तुमने तक्षशिला में जो दस वर्ष बिताये हैं, वह उसी तैयारी के लिये, जिसकी कि इस वक्त वैशाली को जरूरत है । स्नेह हमें मजबूर करता है, तुम्हें न जाने देने के लिये, किन्तु ऐसा स्नेह उसी तरह त्याज्य है, जैसा कि रणविमुख-करनेवाला वीर-पत्नी का स्नेह । तुम अपनी माँ को भी सांत्वना देकर इसके लिये तैयार कर लो ।”

माँ को राजी करना आसान काम न था। एकलौती बेटी के चले जाने पर उन्हें वह सात खंड का घर कैसा भयावना मालूम होगा, इसे मैं और मुझे भी ज्यादा रोहिणी समझती थी। रातों हम दोनों अगले दिन अम्मा से बात करने की सलाह करते ; किंतु जब सामने जाते तो हिम्मत छूट जाती। अन्त में हमने कपिल को अपना दूत बनाया।

कपिल ने एक दिन बात शुरू करते हुए कहा—

“आचार्यायणी ! गण-संस्था ने सौम्य सिंह के प्रति अपना सम्मान खूब दिखलाया, किन्तु वैशाली के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये वह उतावली हो रही है। भेंट के लिये अच्छे-अच्छे घोड़े- घोड़ियाँ सुन्दर, पांडु-कम्बल, पुराण कापिशेयी सुरा के भांड तथा दूसरी उपायन की वस्तुयें जमा की जा रही हैं। आचार्यायणी ने इसे तो सुना होगा ?”

“नहीं, पुत्र ! रिपुंजय आजकल न मुझे कोई काम करने देता है, न कहीं की बात सुनने देता है। तो पुत्र ! वैशाली तो तुम्हें ही जाना है न ?”

“हाँ, मैं ही नागरिक-मंडल का मुखिया चुना गया हूँ।”

“तो कब जाने का निश्चय किया है ?”

“छे महीने बाद, वर्षा के बीत जाने पर, फिर रास्ता अच्छा हो जायगा, नदियों के घाट भी ठीक हो जायेंगे, और मार्ग में सार्थ भी चलने लग पड़ेंगे।”

“हाँ, वह समय ठीक होगा। क्या सब तैयारी हो चुकी है ?”

“करीब-करीब, किन्तु अभी एक बात तो तै ही नहीं हुई, जिसके लिये हम दो साल से रुके हुए हैं।”

“वह क्या बात है पुत्र !”

“सिंह का चलना, हमें सिंह के साथ जाना है माँ जी !”

आचार्यायणी के नेत्रों से टप-टप आँसू गिर पड़े। उनकी गोद में रिपुंजय पड़ा हुआ था, उन्होंने उसके मुँह को चूमकर भरपूर स्वर में कहा—

“पुत्र ! मैं इस दिन से बराबर भय खाती रही हूँ । रोहिणी के व्याह के साल जब नागरिक-मंडल नहीं जा सका, उसी वक्त मुझे कारण मालूम हो गया था । अभी तक रोक रखना अनुचित भी नहीं समझा जा सकता, किन्तु मैं इस बात पर बराबर विचार करती रही हूँ । रोहिणी और सिंह का जाना मेरे लिये कितना असह्य होगा, यह तुम भी आसानी से समझ सकते हो । आचार्य से कितनी ही बार इसके बारे में मेरी बात हुई है, और मुझे उनकी युक्तियों के सामने निरुत्तर होना पड़ा है । लेकिन हृदय नहीं मानता”—कह आचार्यायणी आगे न बोल सकी ।

“आचार्यायणी ! आपका कहना बिल्कुल उचित है । एकलौती पुत्री का वियोग माँ के लिये सहना बहुत मुश्किल है ।”

“बहुत मुश्किल है पुत्र ! किन्तु मैंने सहने का निश्चय कर लिया है । मैं समझती हूँ, इस साल सिंह और रोहिणी को मैं जाने की अनुमति दूँगी, और हृदय को फटने से बचाने के लिये उनसे इस 'जय' की भिक्षा माँगूँगी ।”

जब कपिल ने इस वार्तालाप के बारे में सूचना दी, तो मेरा दिल बहुत सन्तुष्ट हुआ । रोहिणी ने तो कहा—“वह माँ का ही पुत्र है, उसके लिये भिक्षा माँगने की बात माँ क्यों कर रही हैं ।”

दूसरे दिन हम दोनों सीधे अम्मा के पास गये । अम्मा समझ गयीं कि हमारे आने का कल की कपिल की बात से सम्बन्ध है । क्षण भर के लिये उनके चेहरे पर उदासी-सी छा गई, किन्तु उन्होंने बड़े प्रयत्न से अपने भावों को दबा मुख पर हँसी की रेखा ला कहा—

“मेरे इन्द्र-इन्द्राणी कहाँ चले !”

मैंने साहस के साथ कहा—“माँ ! कपिल ने कल की बात हमें बतलाई है । हम दोनों माँ के हैं, फिर हमसे भिक्षा माँगने की बात कैसे हो सकती है । माँ चाहें तो 'जय' को ले लें, चाहे हम दोनों को न जाने का आदेश दें । हम आपकी आज्ञा को शिरोधार्य मानेंगे, किन्तु मगध-

राज की जिस तरह की कोप-दृष्टि वैशाली के ऊपर है, उसे देखते आचार्य की भी राय है, और मेरा कर्त्तव्य भी मुझे वैशाली को प्रस्थान करने के लिये मजबूर करता है।”

अम्मा मेरे वाक्य के समाप्त होने की चुपचाप प्रतीक्षा करती रहीं, और फिर हाथों को बढ़ाकर रोहिणी को अपनी गोद में ले लिया; मालूम होता था, रोहिणी अब भी उनके लिये वही दूध पीनेवाली बच्ची है। रोहिणी के मुँह को चूम तथा उसपर अश्रु-कण गिराते हुए कहा—

“पुत्र ! ध्वराओ नहीं, मेरे पास माता का हृदय भी है, और कर्त्तव्याकर्त्तव्य पहिचानने की बुद्धि भी। जब माता का हृदय जोर मारता है, उस वक्त की मेरी चेष्टा में बुद्धि की कमी मालूम होती है, और मुझे आशा है, छै महीने तुम दोनो मुझे बुद्धि-शून्यता का जीवन बिताने की अनुमति दोगे। मैं साठ के करीब पहुँच चुकी हूँ, अब फिर मुझे रो-हि-णी—” कहते-कहते उनका कंठ रुद्ध हो गया, उनकी आँखों से अश्रु-धार बह निकली। फिर कुछ क्षण के बाद कहा—“पुत्र ! मेरे पास आकर बैठो।”

मैं पास बैठ गया। रोहिणी अब भी उनकी गोद में थी। उन्होंने मेरे ललाट पर अश्रु-मिश्रित चुम्बन दिया, फिर हिमश्वेत केशों को अपने मुँह से हटा मेरे सिर पर हाथ रख कहा—

“पुत्र ! मैं जय को तुम दोनों के स्थान पर रखूँगी। जय को दुःख नहीं होगा, क्योंकि वह रोहिणी को उतना नहीं मानता, जितना कि मुझे। दूध पीना छोड़ उसे रोहिणी से क्या वास्ता है ? और इधर तो बकरी का दूध मेरे हाथ से पी रोहिणी को भी भूलता जा रहा है।”

अम्मा ने हमारे काम को बहुत आसान बना दिया।

एक ओर तक्षशिला तथा उसके स्नेह-पूर्ण हृदयों के वियोग का खयाल था जहाँ कभी-कभी मेरे दिल में उदासी छा जाती थी, वहाँ दूसरी ओर वैशाली की बाल्य से चली आती स्मृति भारी आकर्षण पैदा कर रही

थी। रोहिणी को तक्षशिला के अगले छै मास बहुत दुर्लभ मालूम होत थे, और वह अपनी सखी-सहेलियाँ, बन्धु-बान्धवों में ही नहीं, बल्कि तरु-गुल्मों, वन-उद्यानों के एकान्त-संग में बिताना चाहती थी। मुझे उसका इन बातों से कभी-कभी एकान्तता का अनुभव होता था, किन्तु मैं समझता था रोहिणी के लिये इसकी आवश्यकता है। अन्तिम दो महीनों में हम दोनों कितनी ही बार दो-दो, चार-चार दिन के लिये कर्मान्तों में रह जाते थे, और हमने देखा कि 'जय नानी की गोद के सामने हमें भूलता जा रहा है।

धीरे-धीरे बर्षा भी समाप्त हुई, तक्षशिला के पास की पहाड़ियों पर उगे हरित तृण और वनस्पति अपनी काली हरियाली को छोड़ पक्क बर्षा होने लगे। खेतों में शालि [धान] फूटने लगी, लोग घरों की सफाई और मरम्मत करने लगे।

कपिल के नेतृत्व में दस आदमियों का नागरिक-मंडल वैशाली जा रहा था। उपायन के लिये दस उत्तम घोड़े, कम्बल आदि जमा हो गये थे। उनके साथ तक्षशिला गण की ओर से सुवर्ण फलक पर एक अभिलेख था, जिसके कुछ वाक्य थे—

“वैशाली और तक्षशिला का संबंध बहुत पुराना है। पूर्वजों से सुनते चले आये हैं, कि किसी वक्त गंधार की ही ओर से कितने ही आर्य प्राची की ओर गये और उन्होंने वहाँ वैशाली का गण स्थापित किया। कुछ भी हो, यह तो आज भी सत्य है, कि दोनों नगरियों और नागरिकों की बहुत-सी विशेषतायें समान हैं।...

“वैशाली तक्षशिला की भाँति ही वीरप्रसविनी है, उसके वीर पुत्र सिंह ने जिस कौशल के साथ पार्श्वों की सेना का ध्वस किया, वह हमारे लिए चिर-स्मरणीय बात रहेगी। हमने उस वीर पुरुष का सम्मान किया है, और हमें पूर्ण आशा है कि ऐसे वीर सेनानी को पाना वैशाली के लिए सौभाग्य की बात होगी। और जो उसकी वीर गाथा को सुने होंगे,

वह वैशाली की ओर लालच भरी दृष्टि से देखने का साहस नहीं करेंगे ।...

“हम चाहते हैं, तक्षशिला और वैशाली सदा के लिए भगिनीत्व के सूत्र में बंध जायँ, और गाँधार और लिच्छवि अपने को भाई-भाई समझें।....”

ग्यारह नागरिकों तथा हम दोनों के अतिरिक्त शुभ आदि वैशाली से आये पाँचों तरुण भी अपनी शिक्षा समाप्त कर चलने के लिए तैयार थे, इस प्रकार हमारी संख्या अठारह थी । तै हुआ था कि तक्षशिला से हस्तिनापुर तक स्थल सार्थ के साथ चला जावे, उसके बाद नाव से । उपायन की वस्तुएँ तथा पाथेय खरीदने के लिए उपयोगी विक्रेय चीजे हमने छै शकटों में भरीं जिनके लिए छै आदमियों को छोड़ बाकी बारह आदमी बारह घोड़ों पर चढ़ कर चलते थे ।—मेरे और रोहिणी के लिये आचार्य ने अपनी घोड़साल के दो श्रेष्ठ घोड़े दिये थे ।

शाम को हमें विदाई देने के लिए मित्रो और सखियों का जो सम्मेलन हुआ था, उसमें आमोद-प्रमोद का आयोजन था, किन्तु वह बिल्कुल फीका लग रहा था । सुरा विष-सी मालूम होती थी । स्वादु आहार नीरस प्रतीत होता था । नृत्य-संगीत की बात ही नहीं की जा सकती थी । सारा समय हमने विपादपूर्ण वार्तालाप में बिताया । रोहिणी की सखियाँ अश्रुधारा से उसका मुख प्रक्षालन करती, उसका आलिंगन कर विदाई ले रही थीं । मेरे मित्र पुनर्दर्शन की शुभ कामना के साथ मुझे छोड़ रहे थे ।

सवेरे रात रहते ही हमें तक्षशिला के पूर्व-द्वार से निकलना था । माँ तो सारी रात क्या-क्या पकाने में लगी हुई थीं । हम दोनों ने उठ कर मुँह धोया, कपड़े बदले । फिर माँ के हाथ के बने मधुर माँस-गोलक और अपूप खाये । 'जय निभृत सो रहा था, यह याद आने में वर्षों की देर होगी, जब कि वह समझने लगेगा कि एक भिनसार को उसके माँ-बाप उसे सोता छोड़ भाग गये । मैंने और रोहिणी ने धीरे से उसके मुँह पर चुम्बन दिया । एक बार मुझे जान पड़ा, वह मुस्कुरा रहा है, और उसके

लाल ओठों के बीच से उसकी सफेद दँतुलियाँ दिखलाई पड़ रही हैं, किन्तु यह भ्रम था। हमारा 'जय वे-खबर सो रहा था। बलते दीपक के प्रकाश में मैंने देखा, रोहिणी के नेत्रों में आँसू गिर रहे थे। मेरे आँसू नहीं गिर रहे थे, किन्तु भीतर से मुझे भी बड़ी विकलता हो रही थी।

सार्थ के शकटों के साथ हमारे शकट नगर-द्वार से निकल चुके थे, हमारे और साथी भी चले गये थे। आग्रह पूर्वक माँ और आचार्य को नगर-द्वार पर आने से रोका। देहली पर उनके आलिंगन और ललाट-चुंबन को ले अभिवादन कर हम अपने-अपने घोड़ों पर सवार हुए।

शकटों को एक मील पर जाकर पकड़ा। सूर्योदय के समय अनुपम शोभा की धनी तक्षशिला किसी देव-नगरी सी सामने दिखलाई पड़ती थी। हम अब दूसरे दस सवारों के साथ शकटों के पीछे-पीछे चल रहे थे। आखिर में हम उस स्थान पर पहुँचे जहाँ तक्षशिला आँखों से ओझल होनेवाली थी। वहाँ हम दोनों को घोड़े से उतरते देख कपिल और दूसरे साथी भी उतर गये। मैंने तक्षशिला की ओर अंजलि कर कहा—

“शायद यह अन्तिम अंजलि है, शुभे तक्षशिले ! किन्तु तेरी गोद में बीते ये दस वर्ष कभी नहीं भूलेंगे।”

रोहिणी ने भी अंजलि अर्पित की, किन्तु शब्द के स्थान पर उसके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित थी। और साथी भी हमारी अवस्था से प्रभावित हुए थे ! हमारे वैशालिक बंधु शकटों पर आगे जा रहे थे, उन पर इस जगह क्या बीती, इसके बारे में नहीं कह सकता।

रोहिणी अब भी तक्षशिला की ओर अश्रुपूर्ण नेत्रों से देख रही थी। उसे नहीं पता लगा जब कि मैंने उसके घोड़े को लाकर पास खड़ा किया। जब मैंने कहा—“रोहिणी ! चलो” तो मालूम हुआ जैसे वह सोते से यकायक जगी है।

सवार हो हमने घोड़ों को इशारा किया, और थोड़ी देर में शकटों को जा पकड़ा।

(१२)

वैशाली के मार्ग में

मद्र [स्यालकोटवाला प्रदेश] और मल्ल [मालवा] गणों से मैं दस वर्ष पहले भी पार हुआ था; किन्तु उस वक्त वह दूर के अपरिचित प्रदेश मालूम होते थे। किन्तु अब वह परिचित मित्र-से थे। इन गणों के भीतर मार्ग सुरक्षित थे, कहीं चोर-डाकू का डर न था। लोगों ने वर्षा बंद होते ही रास्तों की मरम्मत कर डाली थी, चन्द्रभागा आदि नदियों के ऊपर पुल बाँध दिये गये थे या नावों का इन्तजाम था। सार्थ को गण के भीतर प्रवेश करते वक्त थोड़ा-सा शुल्क देना पड़ता था। नगर के बाहर सार्थ के ठहरने को सुखद जगहें थीं, जहाँ मनुष्यों और पशुओं के घास-चारे का इन्तजाम रहता था। यदि नगर में अपनी कोई चीज बेचनी होती, तो उसपर भी थोड़ा-सा शुल्क देना पड़ता था।

मद्र और मल्ल के वीर तक्षशिला की रक्षा के लिये पहुँचे थे; इस-लिए वह मेरे वारे में अच्छी तरह जानते थे। मद्र की राजधानी सागल [स्यालकोट] में जब हम पहुँचे, तो वहाँ संस्थागार में गण की ओर से अच्छे स्वागत का इन्तजाम किया गया था। गांधारी रोहिणी माद्री तरुणियों को पा थोड़ी देर के लिए तक्षशिला को भूल गईं। प्राची में मद्र देश सुन्दरियों की खान कहकर प्रसिद्ध है, जब मैंने यह रोहिणी से कहा, तो उसने कपोलों को लाल करते हुए कहा—

“प्राचीवाले मद्र गंधार के भेद को नहीं जानते होंगे।”

“हाँ, मैं स्वीकार करता हूँ; क्योंकि मादरियों और गान्धारियों में से किसी को छोटा-बड़ा नहीं कहा जा सकता।”

जब हम शतद्रु [सतलज] और सरस्वती [घग्घर] पार हो प्राची के भीतर दाखिल हुए, तो पहली निश्चिन्तता छोड़नी पड़ी। अब मार्ग

निरापद न था। जंगल, खोह, नदी सबमें चोरों का डर रहता था। अब बस्तियाँ भी दूर-दूर थीं; इसलिए कितने ही दिनों जंगलों में बिताना पड़ता था। बस्तियों में यही नहीं कि डाकुओं की चिन्ता कम हो जाती थी; बल्कि वहाँ, शाक, दूध, नवनीत तथा दूसरे आहारों का सुभीता था। यह राजा का राज्य है; इसलिए मनुष्यों के व्यवहार में कृत्रिमता ज्यादा है—छोटे-बड़े का खयाल अधिक है। लोग गणों की अपेक्षा ज्यादा गरीब हैं; और बहुत-से दास भी देखे जाते हैं।

जंगलो में मृगया का सुभीता अच्छा था। रोज कोई न कोई शिकार मिल जाता था। कभी हम गवय [नील गाय] मार लाते, कभी हरिण, कभी सूअर, कभी मोर। इस प्रकार, स्वादिष्ट सूप का हमें यहाँ बहुत सुभीता रहता था। हमारे सार्थ में चार सौ आदमी थे। सभी को रोज तो हम सूप नहीं दे सकते थे; किन्तु गवय [नील गाय] के मिल जाने पर सारे सार्थ में बड़ी चहल-पहल रहती। हमारे सार्थ में कितने ही अतिरिक्त बैल होते थे। जब कोई बैल चलने लायक न रहता, तो खाली को जोड़ देते और बेकार बैल सार्थ का सूप बन जाता। अगले ग्राम में बैलों की संख्या पूरी कर ली जाती। ग्राम में पेट भर मांस और सुरा पीने की छूट रहती। हमारे पूरे सार्थ के लिये तीन बड़े बैलों को लेने पर सूप पूरा पड़ता। चोर डाकुओं का जहाँ भय हो, वहाँ सार्थवाह सुरा-पान की छूट नहीं दे सकता।

इन्द्रप्रस्थ पहुँचने से पाँच दिन पहले हमें पता लगा कि डाकुओं का एक गिरोह हमारे सार्थ का पीछा कर रहा है। उस समय सार्थ ने सेना-अभियान का रूप धारण किया था, जिसमें रोहिणी किसी पुरुष से कम सावित नहीं हुई। बल्कि, कपिल ने जब उसे रात्रि के सैनिक-कार्य से मुक्त करना चाहा, तो वह झगड़ पड़ी—रोहिणी के स्वभाव में झगड़ालूपन छू नहीं गया है; किन्तु उस दिन मैंने वस्तुतः उसे क्रुद्ध होते देखा।

इन्द्रप्रस्थ में यमुना पार हो हम गंगा के किनारे हस्तिनापुर पहुँचे । रास्ते में हमें कल्माषदम्य राजधानी मिली थी । कुरु के वृद्ध राजा को हमने एक दिन रथ पर नगर से बाहर जाते देखा । उसके इर्द-गिर्द सैकड़ों प्रहरी थे । मेरे तक्षशिला के साथियों में से अधिकांश ने किसी राजा को अब तक नहीं देखा था ; इसलिए उन्हें जान पड़ा कि राजा किसी युद्ध में जा रहा है। जब मैंने उन्हें बतलाया कि युद्ध के लिए नहीं बल्कि उद्यान-क्रीड़ा के लिए जा रहा है, तो उन्हें आश्चर्य हुआ—इतने सशस्त्र प्रहरियों की इसके लिए जरूरत ? मैंने उन्हें समझाया कि राज-तंत्र में एक व्यक्ति—राजा—बहुत भारी जिम्मेवारी और अधिकार अपने हाथ में ले लेता है । कितनी ही बार अपने स्वेच्छाचार से कितनों को दुश्मन बना देता है, कितनी ही बार उत्तराधिकारी अधिकार हाथ में लेने के लिए उसे रास्ते से साफ करना चाहते हैं । इस प्रकार राजा को हर वक्त जान का खतरा बना रहता है ; जिसकी वजह से वह वृद्ध से ताजा फल तोड़कर तब तक नहीं खा सकता, जब तक कि उसे कोई दूसरा चख न ले; वह क्रुप का स्वच्छ जल लेकर प्यामा बैठा रहेगा, इस प्रतीक्षा में कि कोई दो घूँट पीकर सिद्ध करे कि इसमें विष नहीं है—रसोई में बने भोजन की तो बात ही क्या है ! वह नींद भर सो नहीं सकता, उसकी अधिकांश रातें दुःस्वप्न में बीतती हैं । इसपर मेरे एक साथी भद्रिक ने कहा—

“इतने जोखिम को देखते हुए राजा इतनी जवाबदेही क्यों अपने ऊपर लेता है ?”

“क्योंकि भोग में उसे अधिक स्वच्छन्दता होती है । वह देश का सबसे धनी आदमी होता है। बिना व्यापार के उसके पास दुनिया भर की श्री चली आती है । उसके पास सबसे अधिक कर्मात्त [खेती] होता है । वह सबसे अधिक दास-दासियों का स्वामी होता है । नित नई-नई तरुण-सुन्दरियों से वह अपने अन्तःपुर को भरता रहता है ।”

“किन्तु, लोग इसे सहन करने को तैयार क्यों होते हैं ?”

“जब वह सहने के लिए अपने को बेबस समझने लगते हैं, तभी तो उनके ऊपर राजा का शासन शुरू होता है ?”

“हम तो कभी बर्दाश्त नहीं करते ।”

“किन्तु, पश्चिमी गंधार के लोग शासानुशास [शाहंशाह] का जूआ ढो रहे हैं। राजा केवल एक जन [जाति] के ऊपर तक ही अपने शासन को सीमित रख कभी सुगन्धित नहीं रख सकता। जिस प्रकार गण के लिये दूसरे जन पर शासन करना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार राजा के लिए केवल एक जन पर शासन करना सम्भव नहीं है। राजा को शासन करने के लिये अनेक जन चाहिये, जिसमें वह एक के विरुद्ध दूसरे की सहायता ले सके। उसे दासों का समाज चाहिये, जिसमें एक जन के भीतर भी अपने सहायक ढूँढ़ सके। स्वयं एक जन को भी राजा तोड़-फोड़ करके रखते हैं। उत्तरापथ के गणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि भेद नहीं देखे जाते। उनके यहाँ देवताओं की पूजा-प्रार्थना के लिये कोई अलग समुदाय निश्चित नहीं है। किन्तु, यहाँ इन राजाओं के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेद बनाये गये हैं। यह भी राजा के स्वेच्छा-चारी शासन के सुभीते के लिये किया गया है।”

हरतिनापुर में हमें कुछ दिनों ठहरना पड़ा। यद्यपि नदी-सार्थ का मिलना वहाँ कठिन नहीं है, बराबर वहाँ से काम्पिल्य, कान्यकुब्ज, अलविका, प्रयाग-प्रतिष्ठान, वाराणसी के लिये नावें छूटती रहती हैं; किन्तु हमें अपने घोड़ों के लिये खास तरह की नावों की जरूरत थी, जिन्हें और किसी सार्थ के पास न पा हमें स्वयं बनवाना पड़ा।

हमें राजगृह के श्रेष्ठी जोतिय का नदी-सार्थ यहाँ मिला। कितने ही सार्थ हमें साथ ले चलने के लिए उत्सुक थे। कुछ तो हमें भेंट भी देने के लिये तैयार थे। आखिर सत्रह-सत्रह हठ धनुर्धर भटों—जिनमें से अधिकांश अश्वारोह थे—का साथ पाना सार्थ के लिये कम लाभ की

चीज न थी। जोतिय का सर्वार्थक भीम बड़ा चतुर और देशदर्शी आदमी था। उसने पूर्व, पश्चिम समुद्रों ही नहीं, कितने ही दूर-दूर के द्वीपों की यात्रा की थी। गंधार को भी उसने देखा था। उसकी चालीस विशाल नावों में, गंधार और तुषार प्रदेश की तरह-तरह की चीजें थीं, जिनमें उत्तर-कुरु का कादलि मृग-चर्म भी था। यह पण्य वस्तुएँ सिर्फ मगध और सुन्न तक ही के लिये न थीं; बल्कि उनमें से कितनी ही सुवर्णभूमि [वर्मा] तथा पूर्व समुद्र [बंगाल की खाड़ी] के दूसरे द्वीपों को जानेवाली थीं।

भीम से मगध के बारे में कितनी ही बातें मालूम हुईं। राजा बिम्बिसार फिर सैनिक तैयारी कर रहा है। उत्तरापथ [पंजाब] से हजारों घोड़े उसने खरीदे हैं। अब किस पर उसका आक्रमण होगा, इसके बारे में भीम कोई निश्चित बात नहीं बतला सका। जोतिय-श्रेष्ठी के वाणिज्य-दूत सारे जम्बूद्वीप [भारत] और सागरपार तक में वसे हुए हैं; इसलिये हर एक राज्य के भीतर शान्ति और युद्ध के बारे में उन्हें काफी जानकारी होती है, आखिर वाणिज्य भी तो देश की शान्ति-समृद्धि पर निर्भर है। हाँ, इतना पता लगा कि कोसल और वत्स के राजा तथा लिच्छवि-गण भी सेना के आयोजन में लगे हैं। लिच्छवि का नाम आने पर मेरा दिल धक-धक करने लगा—क्या बिम्बिसार लिच्छवियों के प्रहार को इतना जल्दी भूल गया?

नदी-सार्थ में बैलों के न होने से घास-चारे की न फिक्र करनी पड़ती है, और न शकट को चींटी की जैसी चाल से चलना पड़ता है। गंगा की धार में नीचे की ओर जाने में नाव की गति वैसे भी तेज होती है; फिर आजकल तो पछुवाँ हवा थी, और पाल के सहारे नावें और तेज भाग रही थीं। हमारे घोड़ों के लिये सूखे-हरे चारों की कमी न थी। कभी-कभी सार्थ किसी जंगल के किनारे लकड़ी आदि जमा करने के लिये खड़ा हो जाता; उस वक्त हम अपने घोड़ों को कुछ दौड़ा लेते

तथा कुछ शिकार का भी इन्तजाम करते। हमें कुछ कार्पापण खर्च करना पड़ता, और मछली रोज हमें अपने सार्थ के नाविकों से मिल जाती। चाँदनी में दिन-रात नावें चलती रहतीं; अँधेरी रात में हम लंगर डाल बीच धार में ठहर जाते—शराब का इन्तिजाम करने के लिये इस समय मल्लाह मशाल बार मछली मारते। कापिल्य, कान्यकुब्ज-जैसे महातीर्थों में जोतिय के वाणिज्य-घर थे। वहाँ सार्थ को कुछ चीजें उतारनी-चढ़ानी पड़ती थीं, जिसके लिये हमें एक-दो दिन ठहरना पड़ता। इस समय को हम बारी-बारी से नगर देखने, कुछ पण्यों को बेंच खाने-पीने की चीजों को खरीदने के काम में लगाते। जाड़े का मध्य था; किन्तु रोहिणी का कहना था, यहाँ तक्षशिला से कम सर्दी पड़ती है। रोहिणी को प्राची के नगरों की समृद्ध पण्य-वीथियों [बाजारों], भव्य प्रासादों, सुन्दर क्रीड़ा-उपवनों को देखकर प्रसन्नता होती; किन्तु जब वह चाण्डालों, दासों तथा कर्मकरों की जीर्ण-शीर्ण भोपड़ियों तथा उनके दीनहीन निवासियों को देखती; तो क्षुब्ध हो जाती। अब उसे मालूम हो रहा था, कि दासता कितनी क्रूर होती है, गरीबी कितनी असह्य होती है। कान्यकुब्ज के राजोद्यान में हम गये। बीच में पुष्पित पद्म, सरोज, पुण्डरीक से सुशोभित अच्छोद पुष्करिणी थी, जिसमें हंस मिथुन-किलोलें कर रहे थे। चारों ओर स्थलपद्म, जाती, यूथिका आदि नाना वर्ण-गन्धवाले पुष्पों की रम्य क्यारियाँ थीं। बीच-बीच में हरित कंदुक-भूमि थी, जिसमें तरुण प्रमदायें कंदुकक्रीड़ा कर रही या बैठी रहस्यालाप में लीन थीं। रोहिणी के शरीर पर सिवाय कुंडल के कोई आभूषण न था। उसके वस्त्र भी साधारण नागरिकाओं-जैसे थे। किन्तु, गांधारियों की रूपश्री भी साथ ही उसके पास थी, जिसके कारण हठात् दूसरों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित होता था। कान्यकुब्ज के राजोद्यान में पांचाल राजकन्या अपने परिजन के साथ उस वक्त आई हुई थी। अपनी सखी से रोहिणी की बात सुनकर वह हमारे पास चली आयी। हम उस

क्त श्वेत-शिला पर बैठे पुष्करिणी की सुषमा देख रहे थे। राजकन्या ने आते देख हम उठकर खड़े हो गये। राजकन्या की एक सखी ने आकर हमें परिचय दिया। मैंने रोहिणी को जाकर मिलने के लिये कहा।

वह दोनों ही एक-दूसरे के मिलने के शिष्टाचार से अनभिज्ञ थीं। रोहिणी हसी कन्या को अपने समान समझ मित्र-भाव से मिलना जानती थी। राजकन्या समय-समयों में सभी को अपने परिजन के तौर पर मिलना जानती थी। किन्तु, रोहिणी के रूप को देखकर उसे भ्रम हो गया था कि वह भी कोई राजकन्या है; इसलिये रोहिणी के 'स्वागत' कहने पर उसने भी 'स्वागत राजकुमारि' कहा। मैं कुछ हटकर देख रहा था, और पीछे रोहिणी ने जो अपने वार्त्तालाप के बारे में कहा, उससे मालूम हुआ—

राजकन्या—“सखि ! तुम इस देश की नहीं मालूम होती; इसलिये हमारा करना कुछ जिज्ञासा करने के लिये।”

रोहिणी—“नहीं, राजकुमारि ! इसका खयाल न करें। मुझे आपसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई।”

राजकन्या—“यह तुम्हारे कौन हैं ?”

रोहिणी—“मेरे पति।”

राजकन्या—“तुम्हारा जन्म-देश कौन है ?”

रोहिणी—“गन्धार देश में तक्षशिला नगरी।”

राजकन्या—“मेरी दादी भी गन्धार देश की थीं। क्या आप हमें प्रपना नाम बतलायेंगी ?”

रोहिणी—“रोहिणी। और आपका ?”

राजकन्या—“विद्या। क्या सखि ! तुम्हें कुछ उज्र होगा, यदि हम जताकुंज में थोड़ी देर विश्राम करें ? मैं आपके पति को भी वहाँ बुलाना चाहती हूँ। हम अपने गन्धार के अतिथियों का स्वागत करना चाहती हैं।”

“मुझे अपने पति से इसे पूछकर आने की आज्ञा दीजिये।”—

कह रोहिणी मेरे पास आई। हमारे पास अभी समय था ; इसलिये मध्याह्न को लताकुंज में बिताने में कोई हर्ज न था।

हम दोनों वहाँ गये। राजकन्या सारे शरीर में आभूषणों से लदी थी। उसके कानों में मणि-जटित बड़े-बड़े कुंडल थे, जिनके बोझ से कान कंधे तक लटक आये थे। उसके गले में महार्घ हार थे, जिनसे उसका सारा वक्षस्थल ढँका हुआ था। उसकी कटि में कई लरों की मेखला थी, जिसकी चारों ओर मुक्ता मञ्जें लटक रही थीं। उसके हाथों में बहुत-से कंकण और चूड़ियाँ थीं, जिनसे वह केहुनी तक आच्छादित थे। उसके शिर में चूड़ा और शिरो-भूषण से काले केशों को सजाया गया था। पैरों में भी किकिणीदार पादभूषण [पाजेव] थे। हमारी वैशाली में भी आभूषण का स्वाज ज्यादा है ; किन्तु, इतने आभूषणों को मैंने वहाँ भी नहीं देखा था। इतने आभूषणों के साथ राजकन्या का वहाँ से चलना भी मुश्किल था। मुझे वे भूषण नहीं, भार मालूम हो रहे थे। पास में आया देख राजकन्या ने कहा—

“स्वागत, अतिथि ! मुझे आशा है, मध्याह्न का हमारा आतिथ्य आप सपत्नीक स्वीकार करेंगे।”

“हाँ, आज्ञा शिरोधार्य है। हमारे पास समय है।”

राजकन्या—“क्या आप यहाँ कान्यकुब्ज [कन्नौज] में कुछ दिन ठहर नहीं रहे हैं।”

“नहीं, राजकुमारी ! हम नदी-सार्थ के साथ मगध की ओर जा रहे हैं। बस, आज भर रहना है।”

“तो आप मगध के राजकुमार हैं, और सखी रोहिणी गंधार-राजकुमारी ?”

रोहिणी—“नहीं, राजकुमारी ! हम राजकुमार और राजकुमारी नहीं हैं। हम क्षत्रिय हैं। मेरे पति वैशाली के क्षत्रिय-कुमार हैं। तक्षिला से विद्याध्ययन कर मेरे साथ लौट रहे हैं।”

बात करते हुए हम लताकुंज में पहुँचे । वहाँ दासियाँ आसन बिछा हमारे आहार के परोसने का प्रबंध कर रही थीं । हम आसन पर बैठ गये । राजकुमारी ने कहा—

“हम भी क्षत्रिय हैं, राजकुमारी होने से क्या हुआ ? अच्छा, सखी रोहिणी ! यह तो मैं समझती हूँ कि तुम्हारे शरीर के भूषित करने के लिए भूषण की आवश्यकता नहीं ; किन्तु हाथों में तुमने एक कंकण भी धारण नहीं किया ?”

“भूषण हमारे काम में बाधक हो सकता है, राजकुमारी !” अपनी हथेलियों और तर्जनी तथा अंगुष्ठ के कर्कश घट्टों को दिखलाते हुए रोहिणी ने कहा—“हमें धनुष तानना है, खड्ग चलाना पड़ता है । खेत और बाग में भी काम करना होता है, ऐसी अवस्था में हमारे काम में भूषण बाधक हो सकते हैं ।”

राजकुमारी को हाथों को देख कुछ आश्चर्य हुआ; क्योंकि उसकी धारणा थी कि स्त्रियों का सौन्दर्य शरीर के कुसुम-सा कोमल होता है, जो जरा भी वात-आतप लगने से कुम्हला जाता है । उसने अपने कोमल हाथों में रोहिणी की कर्कश हथेलीवाले हाथों को लेकर कहा—“तुम्हारे यहाँ राजकुमारियाँ भी इतना कठोर श्रम करती हैं ?”

“मैं राजकुमारी नहीं, तक्षशिला की क्षत्रिय-कुमारी हूँ ।”

“नहीं, तुम्हारे बात के ढंग से, तुम्हारी निर्भीकता से साफ पता लगता है कि तुम राजकुमारी हो ?”

“लेकिन, इसका कारण और है—राजकुमारी ! गंधार में कोई राजा नहीं, कोई दास-दासी नहीं,—वहाँ सभी क्षत्रिय हैं, सभी समान हैं ।”

“किन्तु, मेरी दादी गाँधारी राजकुमारी थीं ?”

“इधर आकर राजकुमारी कही जाने लगी होंगी । हमारे यहाँ गण का राज्य है, राजकुमारी ! हाँ, हम अपने ऊपर रानी राजकुमारी नहीं

देखतीं; इसलिए हम दूसरी समवयस्का स्त्रियों के साथ समानता का ही बर्ताव करना जानती हैं।”

राजकुमारी को यह बातें सुनकर आश्चर्य और अविश्वास-सा हो रहा था; किन्तु साथ ही रोहिणी की नीली पुतलियों की ओर देखने पर उसमें सचाई की झलक थी। इस वक्त भोजन परमा जा चुका था, और राजकुमारी ने हमें उसकी ओर आवाहन किया। पंचाल प्राचीन राजवंश है; यद्यपि आज कल सूरसेन [व्रज] और वत्स [इलाहाबाद कमिश्नरी] के राजाओं के बीच उसकी प्रभुता मंद पड़ गई है। तो भी कुरु-पंचाल के राजवंश आज भी दूसरे राजाओं को राजसी चाल-व्यवहार सिखलाते हैं। पंचाल का राज-भोजन प्रसिद्ध है; किन्तु मुझे और रोहिणी को वह ज्यादा पसंद नहीं आया; यद्यपि हमने खाते वक्त खूब प्रशंसा की।

भोजनोपरान्त राजकुमारी ने स्वयं तथा उसकी सखियों ने वीणा ले कुछ गीत सुनाये। रोहिणी ने भी इसमें सहयोग दिया। किन्तु, जब हमने नृत्य का प्रस्ताव होते देखा, तो समय की कमी की बात कहकर छुट्टी ली। रोहिणी को कुछ घड़ियों एक राजकुमारी को नजदीक से देखकर एक बड़ी जिज्ञासा की पूर्ति हुई, यद्यपि इससे राज-स्त्रियों के प्रति उसका सम्मान बढ़ा नहीं। उद्यान से बाहर निकलते ही मैंने उसे कहते सुना—
“यह भी सरस्वती की भाँति भैंस बनेगी।”

“सो क्यों?”—मैंने पूछा।

“देखा नहीं, सोलह-पत्रह साल की उम्र में ही उसके चिबुक [टुडु] के नीचे इतना मांस है। और, उसके आभूषण को देखकर तो मुझे उसपर तरस आता था। इतना भार? वैसे, मैं समझती हूँ, राजकुमारी कुरूप न होती, यदि उसे कुछ श्रम करना पड़ता, कुछ खुले वातायन में रहना पड़ता। लेकिन आँखों में वह काजल कितना भड़ा लगता था?”

“तो तुमने रोहिणी! आज राजकुमारी को देख लिया न?”

“हाँ, देख लिया, और साथ बूत गई। हमारी गंधार-कन्याओं की तो फूँक में यह उड़ जाय।”

“फूँक में उड़ जाना ही तो राजकन्या की प्रशंसा है !”

“किन्तु, इससे नारीत्व कलंकित होता है।”

“किन्तु, राजाओं को नारीत्व नहीं चाहिये, उन्हें खेलने के लिए खिलौने चाहिये, और एक से अधिक।”

“एक से अधिक ?”

“हाँ, सैकड़ों, जिसमें उनके हाथ में नित्य नये-नये खिलौने आते रहें।”

“तो नारीत्व का इनके यहाँ मूल्य नहीं है ?”

“मूल्य क्यों नहीं। देखा नहीं, राजकन्या का गात्र कितने आभूषणों से लदा हुआ था ?”

“भार लादना मूल्य ! यह तो दंड है ?”

“किन्तु, राज-महिलाएँ इसे दंड नहीं समझती।”

“क्या, वह सभी निबुद्धि होती हैं ?”

“यह तो प्रिय ! तुम राजकुमारी विद्या को देखकर ही बतला सकती हो।”

“मुझे तो राजकुमारी उतनी बद्धिहीन नहीं जँची ; यद्यपि उसकी कितनी ही बातें अस्वाभाविक-सी होती थीं।”

“प्यारी रोहिणी ! राजतंत्र नर-नारियों का वंदीग्रह है। वहाँ राजा के सामने किसी मनुष्य का कोई मूल्य नहीं। वहाँ नारीत्व क्रीड़ा और कामुकता के लिए खिलौना है। वहाँ स्वतंत्र मानव के लिए कोई स्थान नहीं।”

“तभी प्रिय ! तुम राजतंत्र के साथ इतनी घृणा रखते हो।”

“हाँ, मैं उसे मनुष्यता का कलंक समझता हूँ। और इसमें एक और भी कारण यह है, रोहिणी ! कि हमारी वैशाली के भयंकर शत्रु राजतंत्री हैं।”

“किंतु प्रिय ! क्या राजतंत्र इन जनपदों में सदा से चला आया है ?”

“नहीं, ! मैंने वृद्धों से जो सुना है, उससे जान पड़ता है, कि कुरु, पंचाल, काशी, कोसल, चेदी, वत्स आदि सारे ही जनपद पहले जनों या गणों के निवास थे, पीछे दास-स्वामी, आर्य-अनार्य—वर्णसंकर के भीतरी कलह से लाभ उठाकर स्वार्थी जन-नायकों ने अपनी प्रधानता स्थापित की।”

“बड़ा महँगा सौदा पड़ा।”

“हाँ, इसमें क्या शक।”

“तो प्रिय ! आपका ख्याल है, यदि तक्षशिला में भी आर्य-अनार्य-वर्णसंकर तथा दास-स्वामी के भारी भेदभाव होते, तो वहाँ गणतंत्र नहीं रह सकता था ?”

“वैशाली की कठिनाइयाँ हमारे सामने हैं, रोहिणी ! हमने अपने गण को कायम रखा है, और उसे कायम रखने के वास्ते लिच्छवि-वच्चा सब कुछ अर्पण करने के लिए तैयार है। किन्तु, हम जानते हैं, आर्य-आर्येतर, दास-स्वामी के भेद-भाव हमारे लिए भारी खतरे को चीज है। यह बात मुझे उस वक्त नहीं सूझी थी, जब मैं वैशाली में था। तक्षशिला-गण वैशाली से छोटा होने पर भी इतना बलशाली क्यों है, इसका कारण ढूँढ़ते वक्त मैं इस परिणाम पर पहुँचा।”

हम बात करते हुए जब गंगातट पर पहुँचे, तो पहर भर दिन बाकी था। सार्थवाले कान्यकुब्ज की पण्य वस्तुओं को नावों पर चढ़ा चुके थे, और शाम के पान-नृत्य-उत्सव की तैयारी कर रहे थे। कहीं सूअर को आग पर भुना जा रहा था, कहीं मसाला तैयार किया जाता था, कहीं सुराभाँड रखे जा रहे थे। हमारे अठारह आदमियों का सार्थ भी बड़े सार्थ में अपने मांस और सुरा को दे, खाद्य-पेय की तैयारी में लगा हुआ था। शुभ लिच्छवि मृदंग के आचार्य समझे जाते थे, वह अपने

मृदंग को ठीक कर रहे थे। भीम सर्वार्थक अपनी वीणा के विकार को बड़े गौर से देख रहे थे। कपिल परेशान मालूम हो रहे थे। मुझे देखते ही कंधे पर हाथ रखकर कहा—

“मित्र ! मैंने तो समझा गांधारी के कारण तुम्हारे ऊपर कोई आफत आई।”

“आफत ?”

“हाँ, भीम सर्वार्थक कह रहा था—राजा बड़ा जुल्म करते हैं, पर-धन, पर-दारा का अपहरण उनका धर्म-सा है। फिर रोहिणी जैसा नारीरत्न ?”

“रत्न !” त्योंरी बदलकर रोहिणी ने कहा—“मैं निजीव रत्न नहीं हूँ। कोई कामुक राजा यदि मेरी ओर नजर डालता, तो मैं दिखला देती कि नारीत्व किसे कहते हैं।”

“हाँ बहिन, रोहिणी ! इसमें सन्देह नहीं है ; किन्तु भीम की इस बात को सुनकर जहाँ एक ओर राजाओं के प्रति मुझे घृणा हो रही थी, दूसरी ओर तुम्हें देर करते देख कुछ चिन्ता भी होने लगी थी।”

रोहिणी—“हाँ, देर कुछ हो गई। हमलोग स्नेह के आग्रह में पड़ गये थे।”

कपिल—“स्नेह का आग्रह ? यहाँ पंचाल की राजधानी कान्यकुब्ज में ? क्या कोई वैशाली या तक्षशिला का बंधु मिल गया ?”

“बंधु नहीं, कपिल भैया।” रोहिणी ने कपिल के कंधे पर हाथ रख उसके मुँह की ओर देखते हुए कहा—“मैंने एक राजकुमारी देखी।”

“राजकुमारी देखी, कोई विचित्र जन्तु-सा तो नहीं देखा।”

“विचित्र जन्तु से भी बढ़कर विचित्र ! किन्तु, मुझे उसपर दया आती थी।”

“दया।”

“हाँ, दया, उसमें हमारी तक्षशिला की कुमारियों जैसी सजीवता

तो न थी। वह गहनों से लदी निर्जीव पुतली-सी मालूम होती थी। वह वृद्धहीन लता-सी निराश्रित दीख पड़ती थी, इसीलिये मुझे उसपर दया आती थी।”

“तो मुझे क्यों नहीं ले चली ? मैं उसका आश्रय बनता, और तुम्हें दया दिखाने की भी तकलीफ न करनी पड़ती—कपिल ने हँसते हुए कहा।

रोहिणी ने गंभोर मुद्रा में कहा—“नहीं कपिल भैया ! हँसी न करो, मुझे नारीत्व की निरीह अवस्था, उसकी बुद्धिहीनता पर अफसोस आ रहा था।”

कपिल ने रोहिणी के केशों को उँगलियों से मुलझाते हुए कहा—

“रोहिणी बच्ची ! मैंने नारी के अपमान को देखा है। पार्श्व [ईरान]; ववेष [बाबुल] और दूसरे पश्चिमी लोकों में नारी कामुकों की कंदुक समझी जाती है; यह तो गण ही हैं ; जहाँ नारी का सम्मान नारी के तौर पर होता है।”

उस दिन सचमुच रोहिणी को राजकुमारी की अवस्था देखकर खेद हुआ था। खान-पान में वह सम्मिलित हुई ; किन्तु नृत्य-संगीत के वक्त उसके सिर में पीड़ा होने लगी, और मैं उसे लेकर नाव पर चला गया। कुछ देर तक उसके सिर को गंगा के ठंडे जल से मिंगोने पर उसकी पीड़ा कम हुई। फिर दूध की भाँति चारों ओर छिटकी हुई चाँदनी में गंगा की श्वेतधारा पर खड़ी नौका में लेटी रोहिणी की बगल में बैठा हुआ मैं उसके दिल बहलाने की कोशिश कर रहा था। किन्तु, बीच-बीच में रोहिणी को राजकुमारी की शकल याद आ जाती और वह कह उठती—

“वेचारी अबोध बालिका ! मेरे कर्कश हाथों को देखकर वह द्रवित हो गई थी !! वह समझती है, रूप ही नारी की आजीविका है। धिक् !”

“धिक्कार है प्रिये ! किन्तु, इसमें नारी का दोष उतना नहीं है,

उन्हें यदि महासिंधु के तटपर पार्श्ववाहिनी से लड़ने की आवश्यकता होती, तो वह भी गंधार-कुमारियों जैसी सुवीरा और स्ववशा होतीं ।”

“किन्तु, नारी को बुद्धि तो है, वह रूप के भले-बुरे को समझ तो सकती है ?”

“बुद्धि तो इन राजाओं की सहस्र-सहस्र प्रजाओं को भी है ; किन्तु क्या वह राजा के हाथ की कठपुतली से नहीं बने हुए हैं ?”

इस तरह की बातों से चित्त चंचल होते देख मैंने दूसरी ओर उसके मन को लगाना चाहा, और उसके सिर पर हाथ फेरते हुए कहने लगा—

“प्रिये, अब हम तक्षशिला की अपेक्षा वैशाली के नजदीक हैं ।”

“नजदीक हैं ? तुम तो आठ मास में तक्षशिला पहुँचे थे ?”

“क्योंकि, मुझे स्थल के रास्ते चलना पड़ा था । तक्षशिला छोड़ दो मास से अधिक हुए हैं । मैं समझता हूँ, एक मास के भीतर ही वैशाली पहुँच जायेंगे ।

“इतनी जल्दी !”

“हाँ, क्योंकि हमारी नाव बहुत तेज और रात-दिन चल रही है ।”

“महीने भर के भीतर वैशाली, और फिर मैं अम्मा को देखूँगी !”

“हाँ, और सोमा को भी । मैंने माँ को तुम्हारे बारे में व्याह के वक्त लिखा तो था ; किन्तु कौन ठिकाना है कि वह पत्र माँ को मिला ही होगा ।”

“तो मैं एकाएक जाकर जब दवाजि पर खड़ी हो जाऊँगी, तो अम्मा क्या कहेगी ।”

“ऐसी सोने की स्तुपा [पुत्र-वधू] पा फूली न समायेगी । किन्तु, ऐसा नहीं होगा प्रिये ! गंगा और मही [गंडक] के संगम पर पहुँचते ही हमें वैशाली सवार भेजना होगा, हमारे साथ तक्षशिला का नागरिक-मंडल जो चल रहा है, उसके स्वागत के लिये लिच्छवियों को समय तो देना होगा ।”

“तो क्या हमलोग वहाँ गंगा के तट पर इन्तिजार करेंगे । कम-से-कम मुझे शुभ के साथ आगे जाने देना ।”

“गंगा से दो रास्ते हैं, वैशाली के—एक तो उल्काचेल [गंगा के बायें तट पर का एक स्थान] से स्थल के रास्ते, दूसरा मही से नाव-द्वारा वैशाली के समीपतम स्थान तक ; फिर स्थल से वैशाली । किन्तु, दूसरे मार्ग में कुछ समय अधिक लगेगा ।”

“हम अट्टारह आदमी हैं, और हमारे पास बारह घोड़े हैं ।”

“इसकी चिन्ता नहीं है प्रिये ! छै और घोड़े हम उल्काचेल में माँग सकते हैं । और दस भेंट के घोड़े तो हमें खाली ही ले चलने होंगे, इस प्रकार हमें सोलह घोड़ों की जरूरत होगी । किन्तु, वह आसानी से मिल सकते हैं ।”

“तो प्रिय ! रास्ते में इतनी देर किसलिये ।”

“नागरिक मंडल के स्वागत के लिये । और तुम्हें जल्दी क्या पड़ी है रोहिणी ?”

“मैं जल्दी अम्मा और सोमा को देखना चाहती हूँ ।”

“लेकिन मैं रास्ते में वज्जी देश के सौन्दर्य को दिखलाता ले चलूँगा । पाँच या छे दिन में जो हम धीरे-धीरे वैशाली पहुँचेंगे, उस बीच में तुम वज्जी के मनोरम आभो और केले के बागों को देखोगी ; मैं तुम्हें गोपालों के गोष्ठों में ले चलूँगा । हरिण और मोर के शिकार कराऊँगा । इन पाँच-छे दिनों में वज्जी को तुम इतना अधिक देख लोगी कि वैशाली परिचित-सी मालूम होगी ।”

“मैं अपरिचित के तौर पर जाना चाहती हूँ, उसमें ज्यादा आकर्षण, अनोखापन रहता है ।”

रोहिणी के शिर की पीड़ा न जाने कहाँ चली गयी थी । वह जल्दी जाने का खूब आप्रह्व कर रही थी । मैंने उसके ओठों को चूमकर कहा—
‘अच्छा तो प्रिये ! तुम मुझे छोड़कर आगे चली जाना चाहती हो ?’

“तुम्हें तो नागरिक-मंडल के साथ हर हालत में आना पड़ेगा।”

“और तुम्हें भी क्यों न तक्षिला के नागरिक-मंडल में शामिल कर दिया जाय ?”

“अब शामिल करने से नहीं बनेगा।”

“लेकिन, रोहिणी ! मेरी लालसा थी कि हम दोनों एक साथ माँ के सामने चलते। खैर, तुम्हारी जो वही इच्छा होगी, तो शुभ के साथ जाना। मैं अपना घोड़ा शुभ को दे दूँगा। तुम दोनों दूसरे दिन वैशाली पहुँच जाओगे।”

“हाँ प्रियतम” बैठकर गले से गला मिलाकर कहा—“और मैं आगे चलकर हम दोनों के लिये एक घर तैयार करूँगी।”

“घर तो माँ के यहाँ मिल ही जावेगा ; किन्तु हमें तो प्रिये ! अपना घर तैयार करना होगा—पिता का घर।”

“पिता का घर ?”

“हाँ, मेरे आते वक्त वह खड़ा था, माँ उसकी देख-भाल किया करती थी। वैशाली से बाहर हमारा एक छोटा-सा कर्मान्त भी है।”

“और बाग भी ?”

“हाँ, आमों का हमारे कर्मान्त भूमि में ही। मेरे पिता उतने धनी न थे, उनके पास अपने खाने पीने भर की भूमि थी।”

“पिता का धनी न होना तुम्हें क्या बुरा लगता है प्रिय ?”

“नहीं, पिता मुझे बहुत प्यार करते थे। और बहुत धनी न होना अच्छा भी था, क्योंकि उसने मुझमें साहस और कष्ट-सहिष्णुता पैदा की।”

“तो हमें अपना घर, अपना कर्मान्त आबाद करना होगा ?”

“और वैशाली की सेवा के लिये कमर बाँधनी होगी।”

“तो प्रिय ! क्या तुम समझते हो बिम्बिसार अवश्य वैशाली पर आक्रमण करेगा ?”

“मगध वैशाली को परास्त किये बिना अब एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता। मैं समझता हूँ, उसकी सैनिक तैयारी सिर्फ वैशाली के लिये है।”

“तो प्रिय ! हम ठीक समय पर पहुँचे।”

“मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।”

“तो मुझे भी खड्ग बाँधने की जरूरत पड़ेगी ?”

“जरूरत पड़ सकती है, यद्यपि लिच्छवियानियाँ वैसा बहुत कम करती हैं, तो भी प्रिये ! तुम्हें चुपचाप नहीं करना होगा। इधर के राजे बहुत नीच होते हैं, खासकर स्त्रियों के बारे में।”

“तो इसके लिये मुझे पिटारी में बन्द होकर रहना पड़ेगा”—कुछ परिवर्तित स्वर में रोहिणी ने कहा।

मैंने उसके सिर को अपनी गोद में लेकर कहा—“नहीं प्रिये ! यह अर्थ तुमने कैसे लगाया ? मैं तो यही कहता हूँ कि मुझे इसकी सूचना पहिले से होनी चाहिये।”

“इसके लिये मैं तैयार हूँ। मैं यही चाहती हूँ कि मेरे हाथ खड्ग की कालिमा से वंचित न हों।”

घड़ियों हमारी बातें चलती रहीं, फिर रोहिणी सो गई। मैंने उसके ऊपर कम्बल डाल दिया। तट पर अब भी नृत्य चल रहा था। लोग मस्त थे। भिनसार ही नाचें खुलनी थीं, इसलिए मुझे डर लग रहा था, कि कहीं सबेरे तक यह नाचते ही न रहे, किन्तु आधी रात से पहिले ही कितने ही नाचिक नशे में बेहोश पड़ गये और उन्हें लाकर उनकी नाचों में डाला जाने लगा। मुझे भी न जाने कब नींद आई। रात को स्वप्न देखा। एक बड़ा संग्राम हो रहा है। नजदीक से देखा तो एक ओर से लिच्छवि लड़ रहे हैं। मैं अब घोड़-सवार के रूप में परिणत हो गया था, मेरे वही हथियार थे, जो कि उस दिन महासिन्धु तट के युद्ध में। मैं दुश्मन की सैन्य पंक्ति को चीर कर आगे बढ़ा, देखा एक हाथी आरहा

है। हाथी दूर था और ताड़ के बराबर बड़ा था। इतने बड़े हाथी के ऊपर मेरा भाला कैसे पहुँच सकता है—मैं इस चिन्ता में पड़ गया। इसी बीच में देखा मेरा घोड़ा धरती पर नहीं हवा में चल रहा है। मेरे रश्मि-मकेत से घोड़ा वृक्षों के ऊपर से दौड़ने लगा। मैं सीधे हाथी के ऊपर पहुँच गया। देखा उस पर मगधराज श्रेणिक बिंबसार है। वह मुझे देख काँपने तथा दया की भित्ता माँगने लगा। मैं उत्तेजित हो कह रहा था—“तुम्हें एक बार परास्त कर छोड़ दिया था, अब नहीं छोड़ा जायगा।” यह कह मैं अपना शल्य चलाना ही चाहता था, कि नींद खुल गई। देखा नाव खोलने की तैयारी हो रही है, चंद्रमा अस्ताचल के पास पहुँच गये हैं।

हमारी नाव फिर उसी तरह अबाध-रीति से चलने लगी। मार्ग में दो तीन जगह ठहरते हम वाराणसी पहुँचे। वरुणा और गंगा के संगम पर वसी वाराणसी के गंगा के तटवाला भाग बहुत रमणीय मालूम होता था। यहाँ सार्थकों को चार दिन ठहरना था, क्योंकि वाराणसी महार्घ काशिक वस्त्रों, काशिक चंदन गंध तथा दूसरी वस्तुओं के लिये विश्व-विश्रुत है। आगे का मार्ग निरापद था, इसलिये रोहिणी को वाराणसी की साधारण भाँकी करा हम अटारह जने अपनी दो नावों को ले आगे चल पड़े।

गंगातट पर जगह-जगह दूर-दूर तक हरी फसल खड़ी थी, कहीं-कहीं गोपालों की कुटिकार्यें, तथा मछुओं की भोपड़ियाँ थीं। रोहिणी के लिये इन सब से आकर्षक स्वयं गंगा की गंभीर स्वच्छ धारा थी, जिसमें उलटते सोसों को वह बड़े कौतूहल से देखती थी। रेती पर पड़े धूप लेते मगरों को उसने कितनी ही बार काला काष्ठ समझा, किन्तु नाव के पाम आने पर जब वह सरक कर पानी में घुसने लगे, तो उसे कौतूहल मालूम होने लगा, और जब मैंने उसे बतलाया कि ये कितनी बार आदमियों को पकड़-पकड़ कर निगल जाते हैं, तो उसका शरीर सिहर उठा। गंगा-मही संगम पर दो एक दिन याम [पहर] भर दिन चढ़े हम उल्काचेल [हाजीपुर] पहुँच गये।

(१३)

लिच्छवियों की भूमि में

उल्काचेल पहुँच हम छत्रों लिच्छवि और रोहिणी बहुत खुश हुए, आखिर हम तीन महीने की संकटपूर्ण यात्रा समाप्त कर घर—वज्जी में—पहुँचे थे। तट पर उतरते ही शौल्कि [कस्टम्, चुंगी का अफसर] आ पहुँचा। मैंने तो तक्षिला के नागरिक-मंडल तथा उपायन [भेंट] की बात उसे बतलायी। लिच्छवि बहुत प्रसन्न हुआ, और मुझे लिवाये तुरन्त सेनानायक के पास पहुँचा—गंगा पार मगध होने से उल्काचेल में लिच्छवियों की सीमान्त-सेना रहती है। मुझे यह देखकर बड़ा आनंद हुआ, कि सेनानायक मेरे पिता के परम मित्र रोहण हैं। मुझे देखते ही उनकी आँखें भर आईं, और आलिगन तथा भ्रू-चुम्बन करते हुए कहा

“पुत्र ! बहुत ठीक समय पर आये। वैशाली को तुम्हारी इस वक्त बहुत अधिक आवश्यकता थी।”

मैंने अपने बारे में थोड़ा-सा तथा तक्षिला के नागरिक मंडल, उपायन की बात कह सुनायी। फिर सेनानायक रोहण बोले—

“तो पुत्र ! वैशाली को अभी सवार भेजता हूँ, दो घड़ी भर में हमारा पत्र पहुँच जायेगा। मैं एक पत्र अभी लिख रहा हूँ, तुम भी लिखना चाहते हो, तो यह तालपत्र, लेखनी और मसीपात्र है। और क्या जरूरत होगी ?”

“शकटों पर उपायन की वस्तुयें तथा दस घोड़े पहिले चले जाने चाहिये, क्योंकि उन्हें चार योजन मार्ग जाने में कुछ अधिक समय लगेगा।”

“इसके अतिरिक्त, पुत्र ! हमें स्वागत की तैयारी का समय भी मिलना चाहिये ; तक्षशिला मैं नहीं गया हूँ, किन्तु तक्षशिला हम लिच्छवियों के लिये सदा से सुपरिचित रही है। पीढ़ियों से लिच्छवि तक्षशिला को दूसरी माता के तौर पर मानते आये हैं। यह पहला अवसर है जब गंधार गण के नागरिक मंडल के स्वागत करने का हमें अवसर मिल रहा है। पहले चिट्ठी लिखो, फिर दूसरी आवश्यकताओं को बतलाओ।”

मैंने एक पत्र अपने गणपति सुनंद को लिखा, और दूसरा अपनी माँ को ; गणपति को कुछ विस्तार के साथ और माँ को रोहिणी के साथ जल्दी वैशाली पहुँचने के संबंध में। उल्काचेल से योजन योजन पर सवार दिन-रात तैनात रहते हैं, और प्रत्येक सवार दौड़कर अगले को पत्र थमाता जाता है, फिर चार योजन का रास्ता काटने में कितनी देर लगेगी ? सेना-नायक ने पत्र को कुछ विस्तार के साथ लिखा, उसपर अपनी मुहर लगाई, फिर ताल-पत्र को लपेट रस्सी से बाँधा, जोड़ पर कोमल मिट्टी की गोली चिपका उसपर बड़ी मुद्रा अंकित कर सवार के हाथ में दे वैशाली जाने का आदेश दिया। उससे निश्चिन्त हो उन्होंने मुझसे कहा—

“पहले तो तुम्हारे मध्याह्न भोजन का इन्तिजाम करता हूँ। कितने आदमी हैं ?”

“दस नागरिक-मंडल के आदमी, जिसमें सेनानायक कपिल और दूसरे सेनानी हैं, शुभ आदि पाँच लिच्छवि-पुत्र युद्ध विद्या पढ़ वैशाली लौट रहे हैं, मैं और मेरी स्त्री रोहिणी—”

“तुम्हारी स्त्री, मेरी पुत्र-वधू ! तक्षशिला” कह मुझे एक बार और गाढालिंगन करते हुए “तुमने पुत्र ! तक्षशिला और वैशाली के संबंध को और दृढ़ किया। हमें यह प्रयत्न करना होगा, कि हमारे बीच का साठ योजन का अन्तर हमारे घनिष्ठ संबंध पर कोई असर नहीं डाल सके। अच्छा, तो तुम्हारी चाची से कहता हूँ, घर में वधू के विशेष स्वागत

का प्रबंध करें। अठारह आदमियों के लिये आज ओदन [भात] और शूकरमर्दव [बच्चे सूअर का मांस] कैसा रहेगा ?”

“बहुत ठीक रहेगा चचा !”

“दस घोड़ों के दस साईस चाहियें, और कितनी गाड़ियाँ ?”

“पाँच काफी होंगी ।”

“तो पाँच गाड़ियाँ और पाँच गाड़ीवान् । घोड़ों के साथ मैं अपने सारथी को भेज रहा हूँ । आजानीय [श्रेष्ठ जाति के] सैन्धव घोड़े यहाँ तक कहाँ पहुँचते हैं पुत्र !”

“और चचा ! ये तक्षशिला के असाधारण [आजानीय] घोड़े हैं ।”

“गाड़ियों के साथ मैं सेनानी तिष्य को पाँच भटों के साथ भेज रहा हूँ । चढ़ने के लिये घोड़े या रथ जो चाहोगे बहुतेरे मिल जायेंगे । मैं अभी सेनानी तिष्य को कहने जा रहा हूँ, कि घोड़े और सामान को नाव से उतरवा शीघ्र वैशाली के लिये खाना हो, तुम अपनी चाची से मिल लो, फिर तुरन्त हम दोनों घाट पर अतिथियों के स्वागत के लिये चलें ।”

सेनानायक यह कह सूफकार को भोजन का आदेश देते बाहर चले गये । मैं “चाची !” आवाज दे आँगन की ओर बढ़ा । दासियों ने पहिले ही चाची से सिंह के आने की सूचना दे रखी थी । वह आवाज सुनते ही दौड़ी आई, और मुझे गले लगा ललाट पर चुम्बन देते हुए रुद्र कंठ से कहने लगी—

“पुत्र ! कितने वर्षों से तुम्हारा समाचार भी नहीं मिला था, अभी गण समज्या [महोत्सव] में मैं वैशाली गयी थी. वहिन मल्लिका विप्रण हो कह रही थी, कि सिंह की कोई खबर नहीं मिल रही है । पत्र बारह वर्ष हो गये न तुम्हें घर छोड़े ?”

“नहीं चाची ! दस साल ।”

“अच्छा दस साल भी तो वेटा ! युग हो जाता है । सोमा भी बहुत रोती है । पुत्र ! तुम्हें सूत्रित नहीं किया जा सका अब वह मेरी वहिन

मल्लिका की पुत्री मेरी वधू है, शूरसेन और सोमा ने जब हमसे विवाह की अनुमति माँगी तो हमारे-तुम्हारे चाचा के भी हर्ष की सीमा न रही। सोमा और शूरसेन को वैशाली में देखोगे। और पुत्र ! तुम्हारा मुंह सूखा हुआ है। अरे काली ! मेरे बेटे का मुंह सूखा नहीं देख रही है। जा मधुगोलक [लड्डू] और गर्म दूध—”

इसी बीच में चचा पहुँच गये, और बात काटकर बोले—

“बेटे को ही मधुगोलक खिलाना है, कि बहू के सूखे ओठों की भी भिन्न करनी है।”

“बहू ! क्यों बेटा ! बहू व्याह लाये हो ?”

“हाँ, बेटा बहू व्याह लाया है, और हम दोनों जा रहे हैं, घाटपर बहू और सोलह दूसरे अतिथियों का स्वागत करने, मैंने सुनीथ को मध्याह्न भोजन के बारे में कह दिया, किन्तु वह तुम्हारी चीज है सुकुला ! घर में बहू के स्वागत की तैयारी करो। चलो पुत्र ! चलें, लोग घाटपर प्रतीक्षा करते होंगे। शौलिक ने उन्हें ठीक से बैठाया तो होगा, किन्तु जल्दी उन्हें यहाँ लाना है।”

हम दोनों सेनानायक के प्रासाद से निकल कर घाट पर गये। देख रहा हूँ, शौलिक सोलह जनो को अपने फूस के सुन्दर कुटीर में मधुगोलक और दुग्ध पिला रहे हैं। दूसरी ओर सेनानी तिथ्य नाव से सामान उठाकर गाड़ियों पर रखवा रहे हैं। धोड़े तट पर हरे गेहूँ को बड़े चाव से खा रहे हैं। सेनानायक ने कहा—

“तो बेटा ! तुम्हीं घाटे में रहे। न चाची का ही जलपान पा सके न शौलिक मनोरथ ही की दावत में शामिल हो सके।”

शौलिक मनोरथ, जो सेनानायक की बात सुन रहे थे, बोल उठे—

“नहीं आर्य ! बहू को भामा भीतर ले गयी है, जानते हैं न स्त्रियों का स्त्रियों के प्रति विशेष पक्षपात होता है ; और आयुष्मान सिंह को भी वहीं जाना है।”

“तो बेचारी सुकुला के मधुगोलक और दूध रखे ही रह जायेंगे । अच्छा पुत्र ! तुम भीतर जाओ”, फिर तक्षशिला नागरिकों की ओर बढ़कर—

“बन्धुओ ! लिच्छवियों की भूमि पर उनका सेनानायक रोहण आपका स्वागत कर रहा है । आप इस वजी भूमि को गंधार-भूमि समझें । यहाँ आपको कष्ट तो नहीं हुआ ?”

दुग्ध-पान समाप्त हो चुका था । मैंने पहले सेनानायक कपिल का परिचय दिया, जिसपर चचा रोहण ने उनका आलिंगन किया ; उन्हीं तरह बाकी नवो नागरिकों को आलिंगन कर उन्होंने शुभ आदि पानों लिच्छवि-पुत्रों का आलिंगन तथा ललाट-चुम्बन कर सबसे ज़ेम कुशल पूछने लगे । मुझे शौलिकक मनोरथ घर में ले गये । अस्थायी पर्ण-कुटीर होने पर भी वह बहुत स्वच्छ सुगन्ध थी । हमारे पैरों की आदत पाने ही मामा दौड़ आयी—

“देवर सिंह ! स्वागत । आओ बहू तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है ।”

जाकर देखा तो मधुगोलक और दुग्ध रक्खा हुआ है । हम चांगे आसन पर बैठ गये—शौलिकक मुझसे एक ही वर्ष बड़े थे, इसलिये मामा देवर पर खास अधिकार रखती थीं । उन्होंने मेरे गाल पर अपने गाल को रखते हुए कहा—

“देवर सिंह ! मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, तुम नहीं आये, फिर देखा, बूढ़ी होती जा रही हूँ, और डर लगा कि फिर कोई लिच्छवि पूछेगा भी नहीं ; क्या करती हार पछताकर मनोरथ का हाथ पकड़ा ।”

“लेकिन तब भी घर में ही रही मामी !”

“हाँ देवर ! पत्नी और मामी में कोई अन्तर थोड़ा ही होता है ।”

रोहिणी कुछ चकित हो देख रही थी । मामा ने उसके चिबुक को अंगुली से छूकर कहा—

“बहू ! तुम्हें ईर्ष्या हो रही है, मैं सिंह को तुमसे छीनने नहीं जा रही हूँ, और छीनना भी चाहूँ तो तुम्हारे सामने मुक्त बुढ़िया को कौन पूछता है—”

हमें देर करते देख सेनानायक ने आकर कहा—“मैं आतिथियों को घर पर ले जा रहा हूँ, तुम निश्चिन्त से आना, हाँ मध्याह्न-भोजन तक पहुँच जाना । तुम्हारी चाची मधुगोलक-दूध लेकर तुम दोनों की प्रतीक्षा में उतावली तो हो रही होगी, किन्तु मैं समझ लूँगा । और मनोरथ तुम दोनों भी आना ।”

रोहिणी जवाब देने में रुक गयी थी । मैं उसे हाथ में पकड़े आँगन में लाया, और चाचा ने समझ लिया वह कौन है, उन्होंने उसके कन्धों पर हाथ रख उसके ललाट को चूमा, फिर पुलकित स्वर में कहा—

“पुत्री ! तुम्हारा स्वागत । तुम्हारी माँ—सोमा की सास—सुकुला तुम्हारी प्रतीक्षा में है, सिंह बेटा ! जल्दी आना ।”—कह चचा चले गये ।

भाभी की सरोता जैसी चलनेवाली जवान—जो बीच में रुक गयी थी—फिर चलने लगी—

“तो बहू ! बुरा न मानना । हमारा प्रेम इतना ही तक पहुँचा था, कि नाचते वक्त सिंह ने मेरे गालों को चूमा था । प्रिय मनोरथ ! इस रहस्य को जानकर मुझे आशा है, तुम मुझसे घृणा नहीं करोगे ।”

“रहस्य और घृणा ! लिच्छवि तरुण-तरुणियों में किसने किसका कपोल चुम्बन नहीं किया है ।” मनोरथ ने कहा !

“तुम बड़े उदार हो मनोरथ !”

“अब भामा ! तुम देवर को छोड़ पति से भिड़ना चाहती हो । देखो बहू क्या कहेगी ?”

“क्या कहेगी ? यही समझेगी कि भामा बेचारी बहुत दुखिया है, उसका पहला प्रेमी तक्षशिला भाग गया, और बुढ़ापे में मिला पति उसकी रत्ती भर पर्वाह नहीं करता ।”

“भाभी !” मैंने कहा—“तुम बूढ़ी कब से हो गयी, मुझसे सिर्फ पांच वर्ष छोटी, अर्थात् रोहिणी से तीन वर्ष बड़ी।”

“वर्ष से क्या होता है, देवर ?”

“तो तुम्हारे भँवरे-से काले केश तो अब भी वैसे ही हैं, तुम्हारे गालों में—जरा चूमने दो” कहकर मैंने चूम लिया। “हाँ, तो तुम्हारे—गाल वैसे ही गुलाबी और वैसे ही मीठे हैं। न तुम्हारा सिर काँपता है, न तुम लाठी लेकर चलती हो, न तुम्हारे दाँत टूटे हैं। मैं तुम्हें भाभी भामा ! ऐसे देख रहा हूँ कि मालूम होता है कल ही छोड़कर गया था।”

“अच्छा, छोड़कर गये, यह तो तुमने भी कबूल किया देवर ! और मनोरथ तो रोज छोड़ने-छोड़ने की धमकी दे रहा है।”

“क्यों मुझे जमीन में गाड़ रही हो भामा ! तुम जानती हो मनोरथ को बाँधकर पटक देने के लिये तुम्हारा एक केश काफी है। और बहू क्या समझेगी ?”

“बहू क्या समझेगी” कह भामा ने रोहिणी को छाती से लगा लिया। वह मेरी छोटी बहिन है, कहेगी बड़ी बहिन को बोलने का रोग है, क्यों बहू ! तुम्हें डर तो नहीं लगता कि भामा कहीं तुम्हारे सिंह को अपने आचल में—या मेरे स्वामी के कहे अनुसार केश में—बाँध न ले।”

“नहीं बहिन !” मुस्कराते हुए रोहिणी ने कहा—“तुम पर मुझे पूरा विश्वास है।”

“ना-ना बहू ! पीछे तुम धोखा खाओगी, मेरे हाथ में सिंह को न सौंपना।”

“अपने को भी बहिन !”

“तुम बड़ी चतुर हो बहू ! और तुम्हारे सुनहले केश मेरे नीले केशों से ज्यादा मूल्यवान् हैं।”

“सोना ज्यादा मूल्यवान् हो सकता है बहिन ! किन्तु लोहे में शक्ति अधिक होती है।”

“तो तुम्हें डर लग रहा है बहू ! और मैं समझती हूँ, मेरी बात से मनोरथ को भी डर लग रहा है। डरो मत प्रियतम ! ‘मनोरथ के श्मश्रुल ओठों को चूमते हुए’ मैं तुम्हें अपने केशों से मुक्त कर दूँगी। और देखो बहू ! मनोरथ की ओर जो मैं उदासीन रहती हूँ, उसका एक कारण यह इसकी बड़ी मूर्खता है, जो मेरे ओठों में गड़ती है, देखो न सिंह के श्मश्रुहीन ओठ कितने कोमल हैं।”

“अच्छा भाई ! मैं मूर्खों को कल ही बनवा दे रहा हूँ।”

“देखा बहू ! आज नहीं कल, युग बीत गये, इनका कल आना ही नहीं। और मैं इससे भी नाराज हूँ, कि इन्हें किसी सीमान्त पर सेनानी होना चाहिये, किन्तु यह यहाँ बटखरा तौल रहे हैं, तुम्हीं बताओ रोहिणी बहू ! इनके हाथों में खड्ग शोभा देता या तराजू।”

“किन्तु भाभी !” मैंने कहा “इसमें भाई मनोरथ का अपराध क्या है। गण की इच्छा से चाहे हमसे खड्ग चलवाये या तराजू। लिच्छवि खड्ग और तराजू में अन्तर नहीं समझते।”

“मैं तुमसे नहीं पूछती हूँ देवर ! देखा रोहिणी ! पुरुष पुरुष का कितना पक्षपात करते हैं, हम दोनों को भी एक हो जाना चाहिये, नहीं तो ‘घर फुटा गँवार लुटा।”

“हाँ, बहिन ! मैं भी कुछ ऐसा ही देख रही हूँ। मैं तुम्हारे साथ रहूँगी।”

भामा ने रोहिणी का मुख चूम कर कहा—“तब हम जरूर विजयिनी होंगी। और मुझे एक बात में और तुम्हारी सहायता चाहिये। ये लिच्छवि बड़े घमंडी हैं, यह हम लिच्छवियानियों को लिच्छवि ही नदा समझते। हम कुछ लिच्छविकुमारियों ने कहा कि मगध के विरुद्ध हमें या सेना में भरती होने देना चाहिये, किन्तु तरह तरह का बहाना बनाते हैं।”

“तो भाई मनोरथ ! क्या मगध से युद्ध का डर है।” मैंने पूछा।

“बहुत ज्यादा। सारे लिच्छवि सशस्त्र हो आजकल युद्ध-अभिनय कर रहे हैं। युद्ध किसी दिन भी घोषित हो सकता है। हमने वागमती

और गंगा के तट के पास मगध के कितने ही गुप्तचरों को पकड़ कर बंदी बनाया है, इसके बदले में बिंबसार ने हमारे कितने ही व्यापारी नागरिकों को पकड़ रखा है ।”

“तो मैं बहुत अच्छे समय में आया ।”

“जरूर, और जल्दी ही कोई बूढ़ा लिच्छवि शौलिक बनकर आने-वाला है, और मुझे तराजू छोड़ खड्ग उठाना पड़ेगा ।”

भामा ने अपने पति के ओठों को चूमकर प्रसन्नवदन हो कहा—

“तो प्रियतम ! मुझसे यह बात छिपा रखी क्यों ?”

“क्योंकि तुम स्त्री हो ।”

“हाँ, हमारे पेट में बात पचेगी नहीं, देखा रोहिणी ! इन पुरुषों के दिल की कालिमा को ?”

“मैं हारा और तुम जीती भामा ! तुम क्या-क्या हँसी कर जाती हो, और मुझे एकबार भी मौका नहीं देती ।”

“पहिले हँसी करना सीखो मेरे मनोरु ।”

“किसके पास ?”

“दूर जाने की जरूरत नहीं ! इसके लिये घर में तुम्हारी भामा मौजूद है । अच्छा, यह बतलाओ ! मुझे इतनी बड़ी खबर क्यों नहीं बतलायी ?”—भामा की भृकुटि कुटिल हो गयी थी ।

मनोरथ ने हाथ जोड़कर कहा—“क्षमा करो देवी ! अपने इस दास को, किन्तु मेरे पद-परिवर्तन की सूचना अभी-अभी आयी है ।”

भामा ने पार्श्वालिंगन करते हुए कहा—“नहीं मेरे मनोरथ ! मैं तुमपर कभी कुपित हो सकती हूँ ; और मुझे आशा है, तुम वैशाली में चलने पर अपनी प्रतिज्ञानुसार, हम लिच्छवियानियों के खड्ग-स्नान पर जोर दोगे । क्या करूँ रोहिणी ? मैं न हुई गण संस्था की सदस्या, नहीं तो उनसे अपनी बात मनवाकर रहती । सेना में अधिकार मिल जाने के

बाद रोहिणी ! हम गण संस्था [पार्लामेंट] में अधिकार माँगेंगी ! तुम्हारी क्या राय है ।”

“मैं तुम्हारे साथ हूँ बहिन ! किन्तु पहिले खड्गधारण के बारे में फैसला कराना है ।”

मैं और मनोरथ एक साथ बोल उठे—“इसमें हम तुम्हारा साथ देंगे ।”

भामा ने अपने पति के कंधे पर हाथ रखकर कहा—“और देखते नहीं हो प्यारे ! युद्ध के बाद कितनी लिच्छवि तरुणियाँ अपने वीर गति प्राप्त पति के अपार प्रेम को जीवन भर के लिये संचित रखे हुए भी दूसरे पति के लिये सन्तान पैदा करने पर मजबूर होती हैं, जिस तरह पति-पत्नी को साथ जीने का अधिकार है, उसी तरह उन्हें साथ मरने का भी अधिकार होना चाहिये ।” फिर समय का ख्याल कर भामा ने कहा—“अच्छा चलें रोहिणी ! चाची सुकुला सारा गुस्सा मुझपर उतारेंगी, कहेगी, उसी चुड़ैल ने बात में फँसा रखा होगा । और देर होते देख कोई आश्चर्य नहीं यदि वह यहीं पहुँच न जायें ।”

हम चारों पर्णकुटीर से निकले, मनोरथ ने अपने कर्मचारियों को काम के बारे में हिदायत दी, और फिर हम चाचा के घर की ओर मुड़े । रास्ते ही में काली दासी ने हमें देखा और वह मुड़ गयी । भाभी भामा ने कहा—“देखा न वह काली दासी हमारे लिये आ रही थी । जरा जल्दी-जल्दी चलो ।”

द्वार पर आनंदाश्रु बहाते हुए चाची ने रोहिणी का आलिंगन किया, फिर मुँह देख देखकर उसके ओठों को चूमा । रोहिणी के मुख की लालिमा के देखने से पता लग रहा था, कि उसे मातृ-स्नेह का रस मिल रहा है । चाची ने कहा—

“अपने घर में स्वागत पुत्री ! मेरी सोने की बिटिया ! रास्ते में तुम्हें बहुत तकलीफ हुई होगी । अच्छा तुम दोनों जाओ अपने चाचा के पास । आ चर्परी बेटी भामा !” कह रोहिणी को बगल में दबाये चाची घर के भीतर चली गयीं ।

चाचा ने दस घोड़ों और शकटों को खाना कर दिया था ; हमारे दो घोड़े अश्वशाला में विश्राम कर रहे थे । हम दोनों जब चाचा के पास गये, तो वहाँ देखा चाचा तरुणों के बीच बैठे कोई बात कर रहे हैं, और सभी बीच-बीच में ठहाका मार कर हँस रहे हैं । हमें देखते ही चाचा ने मस्नद के साथ कम्वल [कालीन] पर बैठे-बैठे कहा—

“आओ बेटा ! मैं सुना रहा था, पिछली बार किस तरह हमने मगधों की जान बचायी थी, किस तरह दाँत निकाल कर उनके सेनानी हमसे प्राण-भिक्षा माँग रहे थे, और किम तरह तुम्हारे पिता सेनानायक अर्जुन ने कमला द्वार पर सारी मागध सेना को धर कर बंदी कर लिया था । मैं अर्जुन का उपनायक था । हम विजयी हुए, किन्तु हमारे सेनानायक को धोखे से रात में एक नीच मागध बंदी ने मार डाला । उस बंदी पर अर्जुन ने विशेष स्नेह दिखलाया था, किन्तु कृतघ्न का हृदय बहुत नीच था ।”

इधर हमारी बात चल रही थी, उधर चाची की ओर से बहू का जबर्दस्त स्वागत हो रहा था । उस स्वागत के बारे में रोहिणी ने रात को मुझे बतलाया, जब कि मैंने उससे पूछा—“क्यों रोहिणी ! तुम पहिले ही वैशाली जाना चाहती हो ?”

“नहीं, अब नहीं चाहती ।”

“क्यों विचार बदल दिया ?”

“चाची सुकुला भी तो अम्मा की ममेरी बहिन हैं ।”

“अच्छा तो एक नहीं दो अम्माँ को मुट्ठी में लेना चाहती हो ।”

“सचमुच प्रिय ! सुकुला चाची का स्वभाव बहुत मीठा है, जब वह

आँसू बहाते हुए मेरे मुँह को बार-बार चूम रही थीं, तो मुझे माँ याद आ रही थी, तीन महीने की माँ की भूख आज तृप्ति अनुभव कर रही थी ।”

“तो लिच्छवियों की भूमि में बारह घड़ी भी बिताने नहीं पायी, और मोह-माया बढ़ने लगी ?”

“क्यों नहीं, बहिन भामा दिन रात हँसाने की विद्या जानती है, और चाची सुकुला तो मेरी दूसरी माँ हैं । मैंने इरादा किया था आगे और धोड़े पर जाने के लिये, किन्तु, अब चाची की बेटी उनके साथ रथ पर जायगी ।”

“रथ पर ?”

“हाँ चाची ने कहा है, कि वह मुझे अपने साथ ले चलेंगी ।”

“कब ?”

“जब उनकी मर्जी ; किन्तु वह तक्षशिला नागरिक-मंडल के स्वागत के वक्त वैशाली में रहना चाहती हैं ।”

“तो अब चाची के साथ जाओगी, और बेचारा सिंह ताकता ही रह जायगा ।”

“तुमको ईर्ष्या हो रही है ?”

“चाची के लिये ? नहीं । ईर्ष्या तो भाई मनोरथ को होनी चाहिये थी ।”

“नहीं प्रिय ! बहिन भामा का साथ छोड़ने का मन नहीं करता । चाची उसे प्यार करती हैं, साथ ही डरती हैं ।”

“डरती क्यों ?”

“कहती हैं—भाई ! भामो की जबान का कोई जवाब नहीं । और काम करने में तो वह अनथक है । आते ही शूकर मार्दव पकाने को सँभाला, तो दोपहर का भोजन समाप्त हो जाने पर भी शाम के भोजन-पान, नृत्य-गान की तैयारी में जो लगीं तो न अपने एक क्षण के लिये

चुप बैठों न दूसरों को बैठने दिया। और उत्काचेल की लिच्छवियानियाँ तो उसकी उँगली पर नाचती हैं। सिर्फ कालिदास से कह दिया कि जाकर घर-घर में कह आओ, चाची के घर में भामा तुम्हें याद कर रही है, और घंटे भर में सारे उत्काचेल का तरुणि-मंडल वहाँ हाजिर था।”

मैंने देखा, रोहिणी के रोम-रोम से मानों आनन्द का स्रोत फूटकर निकल रहा है। तीन महीने से कुम्हलाई लता को जैसे सावन के घन ने परिपिक्त कर दिया, और वह फिर हरी-भरी हो गयी। मैंने उसे हृदय से लगाते हुए कहा—

“प्रिये ! मुझे यह देखकर बड़ी खुशी है कि लिच्छवि-भूमि तुम्हें आत्मीय बनाने में कुछ सफल हुई।”

“कुछ सफल ? प्रिय ! मुझे इतनी आशा न थी, खासकर कान्यकुब्ज की राजकन्या को देखकर मैं समझने लगी थी कि शायद घुलमिल जाने में एक वर्ष लगेगा, और काफी मानसिक संघर्ष करना पड़ेगा।”

“किन्तु, अब ?”

“एक ही दिन में मैं पूरी लिच्छवियानी बन गयी। जान पड़ता है, मैं बनी-बनायी लिच्छवियानी थी। ताता सच कह रहे थे कि वैशाली पूर्व की तक्षशिला है। यह सिर्फ चाची और भामा को देखकर ही नहीं कहती हूँ, आज शाम को जितनी लिच्छवियानियाँ यहाँ आयी थीं सभी कान्यकुब्ज की स्त्रियों से बिलकुल भिन्न ही धातु की बनी थीं। उनसे पता लग गया कि वैशाली में कान्यकुब्ज की गन्ध न मिलेगी।”

“निश्चय, किन्तु दासियों के बारे में तुम्हें क्या ख्याल हुआ ?”

“काली दासी जैसियों के बारे में ?”

“हाँ, और काकदास जैसों के बारे में भी ?”

“इन्हींको तुम खरीद-बेचवाले मानुष कहते थे ?”

“हाँ !”

“इनपर दया आती है। इन्हें मानव से नीचा समझा जाता है।

इन्हें आदमी बनाने का रास्ता शायद नहीं है, नहीं तो ऐसे मधुर स्वभाव-वाले लिच्छवि उनके लिये कुछ करते ।”

“ठीक कहा ! इनके लिये कुछ करना बहुत मुश्किल मालूम होता है । इनकी संख्या थोड़ी होती, तो कुछ किया भी जाता, किंतु यह बहुत ज्यादा है, और लिच्छवियों से भी अ-लिच्छवियों के दास अधिक हैं ।”

“अ-लिच्छवि ?”

“हाँ, वज्जी में लिच्छवि से कुछ ही कम अ-लिच्छवियों की संख्या है । इनमें कर्मकर ही नहीं ब्राह्मण, गृहपति [वैश्य] जैसी कितनी ही धनाढ्य जातियाँ भी हैं, जिन्हें राजशासन में अधिकार नहीं, युद्ध में मरने का डर नहीं, किंतु उनके पास बहुत-सा क्षेत्र है, उनका लाखों का वाणिज्य-व्यापार है ; वह स्वतंत्र और समृद्ध जीवन बिताते हैं । दास-दासियों को मुक्त करने पर सबसे ज्यादा विरोध उनकी ओर से होगा । और साथ ही हमारी दो तरफ—दक्खिन और पूरब में—मगध का राज्य है । बहुत-से दास तो वहीं से आकर स्वेच्छापूर्वक बिके हैं ।”

“मैं सोचती हूँ, प्रिय ! इतने अधिक अ-लिच्छवि कैसे यहाँ चले आये ?”

“यह लिच्छवियों की न्यायप्रियता और दया का फल है । हमारे पूर्वज जब पहिले पहल इस वज्जी भूमि में आये, तो यहाँ चारों ओर महारण्य था ; उसमें उन्होंने अपनी गायें-भैंसें पालीं, सिंह-व्याघ्रों तथा गैंडा हाथियों से भरे जंगल को साफ कर अपना एक गाँव बसाया, जिसकी चारों ओर काष्ठ प्राकार तैयार किया । जनवृद्धि हुई और प्राकार के भीतर और घरों के लिये जगह न होने से, प्राकार को तोड़कर विशाल किया गया । इस तरह कई बार विशाल किये जाने के कारण इस नगरी का नाम वैशाली पड़ा । जंगल में वैशाली के लिच्छवियों के कर्मान्त बढ़ने लगे, उनके पास अधिक पशु हो गये । पूर्वजों के रुधिर के साथ वीरता उनके नस-नस में भरी थी, और आसपास के राजाओं की

भाँति यह विलासपूर्ण जीवन के आदी न थे। उनकी भूमि में सत्य और न्याय का राज्य था, वह शरणागत का परित्राण करना अपना कर्तव्य समझते थे। और ऐसे पीड़ित ब्राह्मण, गृहपति तथा दूसरे उनके पास शरण लेने आये। उन्हें उन्होंने शत्रुओं से अभय किया। उन्हें कर्मान्त के लिये भूमि दी, उनके पशुओं को चराने के लिये जंगल को खोल दिया, उनके वाणिज्य की अपने भुजबल से रक्षा की, इस प्रकार समृद्ध अलिच्छवि कुलों की भारी संख्या हमारे यहाँ एकत्रित हो गयी। शासन में वह हमारे अधीन हैं, किंतु वह मगध, कोसल की अपेक्षा अधिक स्वाधीन हैं, और उन्हें अपने वज्जीदेश से प्रेम भी है। इनके अतिरिक्त कितने ही कर्मकर परिवार भी आकर बस गये हैं, जो कि वेतन लेकर स्वेच्छापूर्वक काम करते हैं। दासों का संबंध सिर्फ लिच्छवियों के ही नहीं बल्कि अधिकतर उन अलिच्छवियों के साथ है, जिनका बहुत-सा धन उनमें लगा हुआ है, इस प्रकार दास प्रथा का उठाना हमारे बस की बात नहीं है; किंतु, हम दासों के साथ बुरा बर्ताव करनेवालों को दंड देते हैं, अपने यहाँ के दास को वज्जी के बाहर बेंचने की मनाही रखते हैं—वज्जी का कोई दास बाहर बिकना नहीं चाहेगा। इससे समझ सकती हो कि लिच्छवि उनके साथ कितना अच्छा बर्ताव करते हैं।”

“हाँ प्रिय ! मैंने देखा, यहाँ की गुथियाँ गंधार से ज्यादा उलझी हुई हैं। गंधार में एक ही रंग के लोग हैं, एक भाषा बोलते हैं।”

“इसीलिए वहाँ समानता रखना बहुत आसान है, किन्तु यहाँ काले दास अलग हैं, काले अथगोरे कर्मकर अलग हैं, फिर ब्राह्मण, गृहपति, आदि मिश्रित जातियाँ हैं। सबको लिच्छवि बताना हमारे लिये संभव नहीं है चाहने पर भी। हाँ, लिच्छवियों के नवों कुलों में कोई भेद-भाव नहीं रखा जाता।”

“नव कुल ?”

“हाँ शत्रु [जथरिया], दीर्घव [दिघवहत] आदि लिच्छवियों के नव कुल हैं, जो प्रथम पूर्वज की नव सन्तानों के वंशज हैं ।”

“लेकिन प्रिय ! इतनी भिन्न-भिन्न जातियों के भीतर रहते भी लिच्छवियों में इतने आर्यवर्णों कैसे होते हैं ?”

“इसके लिये हमारे नियम बहुत कड़े हैं । हम किसी अलिच्छवि माता या पिता की सन्तान को लिच्छवि नहीं मानते । वैशाली की अभिषेक पुष्करिणी में उसे ही लिच्छवि-अभिषेक मिलता है, जो माता-पिता दोनों ओर से लिच्छवि होता है, साथ ही जिसका गौर दीप्तवर्ण होता है ।”

“हाँ मैं देखती हूँ, यहाँ आयी लिच्छवि तरणियों के केश पिंगल कम थे, बहुतों के तो बहिन भामा की भाँति नीले थे, किन्तु वर्ण सबका मेरे तुम्हारे जैसा ।”

“हाँ, किन्तु इसके लिये लिच्छवियों को बहुत ही कड़े नियम बनाने पड़े हैं, अपनी सन्तानों के प्रति कभी-कभी उन्हें निष्ठुरता दिखलानी पड़ती है, किन्तु लिच्छवि रुधिर की शुद्धता स्थिर रखने के लिये इसे सभी स्वीकार करते हैं ।”

“मुझे यह निष्ठुरता अ-प्रिय लगती है । सचमुच प्रिय ! जब मैं काली को अजे [हे] काली ! कह पुकारते सुनती थी, तो वह बड़ा कर्णकटु मालूम होता था ।”

“और काली उसका नाम भी नहीं है प्रिय ! उसके काले रंग के कारण उसे काली तथा दास को काक [कौआ] कहा जाता है, मैं कभी-कभी खयाल करता हूँ, यदि पूर्वज लिच्छवियों ने अ-लिच्छवि शरणार्थियों को स्थान न दिया होता ?”

“किन्तु, यह भी तो भारी निष्ठुरता होती ।”

“ठीक कह रही हो ! जान पड़ता है इस उलझन को हम नहीं, समय [इतिहास] ही सुलभाये शायद । अच्छा रहने दो इन रूखी बातों को प्यारी रोहिणी ! आज का नाच कैसा रहा !”

“बहिन भामा तो प्रिय ! सर्वगुण-आगरी मालूम होती है । तुम्हारे साथ कौन नृत्य नाचती थी ?”

“त्रिपदी !”

“हाँ, त्रिपदी, मुझे उसके पैरों, उसके हाथों और कटिभाग के गति पर ईर्ष्या होती थी, मैं देख रही थी तुम पसीने पसीने हो रहे थे, और वह डायन छोड़ नहीं रही थी ।”

“डायन !”

“प्यार का शब्द है, प्रिय ! अभी बहिन भामा के सामने नहीं कहा, किन्तु वह किस तरह मुझे मुँह चढ़ा रही है, उससे यह उसे एक दिन सुनना होगा ।”

“और वह डायन बनना स्वीकार करेगी ? भामा असाधारण नारी है रोहिणी ! वह असाधारण पदवी सदा स्वीकार करने के लिये तैयार रहेगी । और उसकी सुंदरता ?”

“वह तक्षशिला की किसी भी सुंदरी से मुकाबिला कर सकती है ।”

“यह तो पक्षपात है रोहिणी ! किन्तु वह अभी तीन साल पहिले तक वैशाली की जनपद-कल्याणी [सर्वसुंदरी] रही है ।”

“हैं जनपद कल्याणी प्रियतम ! और उसके केश कितने नील चमकीले हैं ।”

“उसमें तेल लगाना भी सहायक हो सकता है ।”

“मेरे शिर में भी तेल लगाने के लिये कह रही थी, किन्तु मुझे वह चिप-चिप लगता ।”

“और सारा सिरहाना गंदा होता रोहिणी ! नहाने से पहिले लगाकर रीठे से धो डालने में कोई हर्ज नहीं ।”

“किन्तु मेरे केश काले तो नहीं हो जायेंगे ।”

“काले होने में कोई डर है क्या ?”

“भामा जैसे नीले हो जायँ तो मुझे उज्र न होगा ।”

“मेरी सुवर्ण प्रतिमा !” कह उसके हँसते ओठों पर मैंने एक चुंबन देकर कहा—“अभी हमें यहाँ रहना होगा ।”

“पाँच दिन ? मैं और भी परिचय प्राप्त करना चाहती हूँ ।”

“और अपने गाँधार कंठ और गाँधार नृत्य के लिये ‘साधु-साधु’ [वाहवाही] लेना चाहती हो ? आज वैशाली से उत्तर आया है । स्वागत किया है, और सेनानायक को नागरिकमंडल के आराम की ओर विशाल ख्याल रखने के लिये कहा है । हमें किस दिन वैशाली के लिये रवाना होना चाहिये, इसके बारे में कल पत्र आयेगा । तुम तो चाची के रथ में जाओगी न रोहिणी !”

“हाँ, मैं चाची के रथ में जाऊँगी और यदि इस बीच में नया शौल्किक बूढ़ा आ गया तो बहिन भामा भी मेरे साथ होगी ।”

“तो यहीं से एक सेना तैयार करके चलना चाहती हो ।”

“इसके लिये ईर्ष्या न करो । मैं और बहिन भामा सलामत रहीं, तो फिर तुम लिच्छवियानियों की सेना भी देख लोगे । हम सिर्फ अंडा सेने के लिये नहीं हैं ।”

“अंडा सेना बुरा नहीं है प्यारी ! तुमने गौरैया के जोड़े को प्रसव की तैयारी करते देखा है ? गौरैया की मिथुन की कई दिनों तक चलती प्रणय लीला, मधुर कूजन, फिर पिता-माता बनने की तैयारी । पति-पत्नी दोनों मिलकर चोंच में जगह-जगह से तिनके बटोरकर लाते हैं, एक नया नीड़ बनाते हैं । फिर पत्नी अंडा देती है, उसको सेती है, पति आरक्षा करता है । फिर अंडे से छोटे-छोटे बच्चे निकलते हैं, चेंउ-चेंउ बोलते हैं । पति और पत्नी दोनों उड़ जाते हैं, और बारी-बारी से बच्चों के लिये आहार—नरम कीट—लाते हैं । पितरों को देखकर बच्चे चेंउ-चेंउ कर उठते हैं, वह उनके खुले मुँह में आहार डाल फिर दौड़ जाते हैं । दंपती को कैसा होना चाहिये, इसकी सुंदर शिक्षा यह गृह-चटकायें हमें देती हैं ।”

“साथ ही किसी शत्रु के आने पर कैसे उसका मुकाबिला करने के लिये वह दोनों प्राण का होड़ लगाते हैं ।”

“हाँ, और मैं उसमें भी सहमत हूँ । यदि प्यारी रोहिणी ! तुम स्वेच्छा से एक चुंबन दे दो, तो गण संस्था में लिच्छवियानी-सेना तैयार करने का मैं जवर्दस्त समर्थन करूँगा ।”

रोहिणी ने मेरे ओठों को चूमते हुए कहा—“आखिर, रिश्वत लेकर ही न ?”

“रिश्वत लेकर नहीं, प्यारी ! तुम्हारे चुंबन से मुझे उस वायुद्व में भारी बल प्राप्त होगा ।”

काफी रात के जाने के बाद हम अपने शयन कक्ष में पहुँचे थे । इस वार्तालाप ने रात का और भी बहुत-सा भाग ले लिया । किंतु नींद इतनी गहरी आई, कि जय मैं जगा तो धूप खूब चढ़ आई थी । रोहिणी अब भी निद्रालीन थी । मैं चुपके-से पलंग पर से उठकर चला आया ।

दूसरे दिन मालूम हुआ, परसों हमें प्रस्थान करना होगा ।

उल्काचेल के तीन दिन कब बीते हमें मालूम भी नहीं हुआ । आज किसी के यहाँ भोज में शामिल होते, कल किसी के यहाँ ; और रात का चाचा के यहाँ नृत्य-गान की चहल-पहल रहती । रोहिणी का संकोच अब दूर हो गया था, यद्यपि उसका अर्थ यह नहीं था, कि वह भामा की भोंति वाक्पटु बन गयी । यहीं भामा रोहिणी की सबसे प्रिय सखी बनी, और दोनों का यह सख्य आजीवन बढ़ता रहा । गाँधारी वहाँ के आने की बात आसपास के कर्मान्तों में भी पहुँच गयी, और तीसरे दिन मैंने देखा झुंड की झुंड तरुणियाँ बाहर के कर्मान्तों से आ रही हैं । थोड़े समय के लिये उल्काचेल सुंदरियों तथा उनके नृत्य-संगीत का प्रदर्शनी-स्थान बन गया । इन बाहर से आई तरुणियों में उल्काचेल [हाजीपुर] से एक कोस पूर्व दीर्घी [दिग्धी] ग्राम की रहनेवाली एक तरुणी विशेष आकर्षण रखती थी । उसके काले घुँघराले लंबे केश, उसकी अति कृष्ण

तथा बड़ी-बड़ी आँखें, उसका अस्थूल लचीला शरीर, उसका अखंड, उसके विकासोन्मुख तारुण्य और उरोज, उसका मधुर कंठ, उसका तुर-मनोरम पादनिक्षेप एक खास विशेषता रखते थे। इस दीर्घी की तरुणी के साथ उसका पति भी आया था, मनोरथ की भाँति जान पड़ता था, दीर्घी तरुणी भी अपने पति चंद्र को एक केश में बाँधने की गमर्थ्य रखती थी। दीर्घी तरुणी जितनी ही फुर्तीली थी, उसका पति चंद्र उतना ही सुस्त। हाँ, उसकी आँखें बहुत फुर्तीली थीं। बेचारी तरुणी अपनी अपने नृत्य-संगीत का कौशल दिखलाने आयी थी, किन्तु चंद्र इस तियोगिता में अपनी भार्या की सफलता को संदेह की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं नाच कर सारी दर्शक मंडली के उपहास का लक्ष्य बनती, किन्तु जब दीर्घी तरुणी को कपिल ने अपनी सहनर्तकी चुना, और दोनों अखाड़े में उतरे तो चंद्र की सूरत देखने लायक थी। वह बीच-बीच में आँख झाँककर उस जोड़े की ओर देख लेता था। यह रहस्य भामा को मालूम हो गया। उसने दूसरे नृत्य-चक्र में जा चंद्र को धर पकड़ा। बेचारा अपने प्रनाड़ीपन को अच्छी तरह जानता था, इसलिये नहीं जाने के लिये भामा का हाथ पैर जोड़ने लगा। जब मनोरथ, शुभ आदि ने भामा को इस प्रकार चंद्र के हाथ को तानते देखा, तो उन्होंने भी कहना शुरू किया—“नहीं, चंद्र भैया ! तुम्हें नाचना होगा, तुम्हारी ‘मुनिमोहिनी’ को नाचने का अवसर जब कपिल ने दिया है, तो तुम्हें भी भामा का आग्रह मानना चाहिये। भामा हाथ छोड़ने के लिये तैयार न थी—

“सारी वज्जी में मेरे साथ यदि कोई तरुण नाच सकता है, तो यही मेरे प्यारे चंद्र हैं”—कह उसने चंद्र के गालों पर एक चुंबन दे दिया। ‘मुनिमोहिनी’ चंद्र की दुर्गति देखकर बहुत प्रसन्न मालूम होती थी ! जान पड़ता था, चंद्र का छाया की भाँति अनुगमन उसे पसंद न था ! अपने गिर्द भीड़ को बढ़ते देख रोनी सूरत बना चंद्र अन्त में यह कहते उड़े हुए—

“भामा ! तुम ठीक नहीं कर रही हो । मेरी नृत्य-अनभिज्ञता का उपहास करना चाहती हो ।”

कपिल बोला—“मित्र चंद्र ! यदि भामा-जैसी त्रिभुवन-मोहिनी मेरा हाथ पकड़ती, तो मैं अपने को इन्द्र के सिंहासन पर बैठा समझता ।”

शुभ—“और मित्र कपिल ! तब मुझे आशा है, तुम ‘मुनिमोहिनी’ के साथ नाचने का सौभाग्य इस गरीब शुभ को प्रदान करते ।

मनोरथ ने अब चंद्र के साथ सहानुभूति दिखलाते हुए कहा—
“भाई चंद्र ! मैं और तुम समान ही भाग्य के मारे हैं, देखो मुनिमोहिनी कपिल का दाहिना हाथ पकड़े उसके पार्श्व का एक अंग बनकर खड़ी है, और इधर मेरी भामा मुझे रोता-कलपता छोड़ तुम्हारा हाथ पकड़े हुए है । क्या कहा जाय, किस्मत इसी को कहते हैं ।”

शुभ ने कहा—“लेकिन भाई मनोरथ ! तुम तो डकुर डकुर ताकने के लिये मजबूर होते, तब उन्हें मालूम होता ।”

भामा ने मुँह को मनोरथ की ओर फेरकर कहा—“खूब न समान दुखियारे बने हैं । अभी रोहिणी के साथ नाच न रहे थे ।”

मनोरथ—“क्यों तुम्हें यह बुरा लगा भामा ?”

भामा—“बुरा लगता यदि मुझे तुम चंद्र के साथ नाचने में बाधा देते ।”

मनोरथ—“बाधा मैं क्यों देता । तुम दोनों नाचो न ; किंतु भामा ! किसी की इच्छा के विरुद्ध नाचने के लिये मजबूर करना भी बलात्कार है । एक ओर मेरे मित्र का दिल पका हुआ है, यह देखकर कि उनकी ‘मुनि’ कपिल के साथ इतना अनुरक्त हो नाच रही है, और दूसरे जोड़ों की आड़ में पड़ते ही कपिल को न जाने कितने चुंबन दे रही होगी ।—”

“मुनिमोहिनी” ने “आड़ में क्यों” कह उसी वक्त कपिल के गालों पर एक के बाद एक तीन चुंबन दिये । बेचारे चंद्र ने मुँह नीचे कर लिया ।

शुभ ने मनोरथ के पास जाकर कहा—“बड़े चले हो मित्र चंद्र के

साथ सहानुभूति दिखलाने, यदि भामा ने कपिल का हाथ पकड़ा होता, और इस तरह निधड़क चुंबन देना शुरू किया होता, तब न आटा-चावल का भाव मालूम हुआ होता ? कहीं कपिल और 'मुनिमोहनी' की सट्टी-गट्टी लग गई, तो कहाँ दीर्घी और कहाँ तक्षशिला, बेचारे चंद्र को पता भी न लगता ; और तुम्हारा लिच्छवियों का कानून ऐसा कि स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी बात के लिये मजबूर नहीं किया जाता ।”

भामा ने शुभ की ओर भृकुटि बंककर ताकते हुए कहा—“शुभ ! तुम मुझसे ज्यादा होशियार न बनो । तुम चाहते हो मैं कपिल को चुंबन देने जाऊँ, और इधर तुम मेरे प्यारे चंद्र को नौ-दो ग्यारह कर दो” कह भामा ने चंद्र के दूसरे गाल पर एक चुंबन दे बात जारी रखी “प्यारे चंद्र ! तुम यदि कहीं उस वक्त मिल गये होते, तो मैं काहे मनोरथ के पल्ले पड़ती ।”

रोहिणी ने पास आकर कहा—“तब तो तुम बहिन ! नाचते ही नचाते चंद्र को मार छोड़ती ।”

भामा—“तब फिर मनोरथ की बन जाती । लेकिन, यहाँ मारने जिलाने की बात नहीं है बच्ची ! उस दीर्घी की छोकरी ने मेरे चंद्र को किसी काम लायक नहीं रख छोड़ा है । वह समझती है, यदि चंद्र नाचना सीख गया, तो अखाड़े में मैं नित्य नया जोड़ीदार नहीं चुन सकूँगी । मैं आज अपने चंद्र को नृत्य सिखलाऊँगी । चलो मित्र ! लोगों की भीड़ यहीं लगती जा रही है । नगारे पर लकड़ी पड़ने ही वाली है ।”

मैंने कहा—“नहीं भाभी भामा ! आज चंद्र भाई को छोड़ दो, मैं समझता हूँ, वह नाचने से घबराते नहीं ।”

भामा ने बैठकर चंद्र के पैरों पर हाथ फेरते हुए कहा—“ये पैर नाचने ही से सुंदर बने हैं ।”

मैंने कहा—“हाँ, चंद्र भाई का सारा शरीर नाचने के लिये बना है, उनके सिर में दर्द होगा, या कोई और अमुख ।”

चंद्र ने लंबी-साँस लेते हुए कहा—“यही बात ठीक है मित्र ! आज सिर दुःख रहा है, और कुछ-कुछ कलेजे में भी—”

शुभ—“कलेजे ही में कहो ।”

मनोरथ—“और मुझे तो कभी कलेजे में दर्द नहीं होता ।”

शुभ—“क्या जरूरी है, कि सब को एक ही तरह का दर्द हो ।”

मनोरथ—“तो झगड़े के निबटारे का मैं एक उपाय बतलाता हूँ ।”

सब ने कहा—“कहो ।”

मनोरथ—“ऐसे बात खाली जाने के लिये नहीं कहता, चंद्रभाई पहिले स्वीकार करें, तब कहूँगा ।”

मैं—“बिना जाने ही स्वीकार करें, यह अच्छे व्यापारी आये ।”

मनोरथ—“नहीं, मानने लायक बात कहूँगा ।”

मैं—“एक बात किसी के लिये मानने लायक हो सकती है, किसी को नहीं ।”

मनोरथ—“तब तो मैं सिंह ! तुम्हारा यही मतलब हुआ न, कि भामा इस सिर दर्द में भी चंद्र को नचाये ।”

मैं—“अच्छा मित्र चंद्र ! कह दो कि यदि बात बहुत अनुचित न होगी, तो मान लूँगा ।”

चंद्र ने “हाँ” कहा ।

मनोरथ—“चंद्र भाई का चुम्बन नृत्यशाला की सारी सुन्दरियाँ करें ।”

शुभ—“मानो चंद्र का फिर से ब्याह होने जा रहा है, जो कि सभी कुमारियाँ जुटकर चुम्बन करने आयेंगी । और, यह दंड हुआ या पुरस्कार ?”

मैं—“चंद्र ! झटपट ‘हाँ’ कहो, नहीं तो यहाँ काम-बिगाड़ू लोग ज्यादा जमा हुए हैं ।”

चंद्र ने “हूँ” किया ।

मनोरथ—“किंतु, यह शर्त का आधा भाग है, दूसरा भाग है ‘मुनिमोहिनी’ का चुंबन यहाँ उपस्थित सारे तरुण करें।”

चंद्र का चेहरा कुछ लाल हो गया था, और उसके कहने के पहिले ही मैंने कहा—“यह भी कोई दंड है, जिसे वजी की तरुणियाँ तो दिन-रात चुम्बन वितरण करती ही रहती हैं। प्रिय चंद्र जल्दी ‘हाँ’ कहो।”

चंद्र ने जल्दी से ‘हाँ’ कहा, और उसने देखा ‘मुनि’ की आँखों में कुटिल हँसी है।

चंद्र का चुंबन पहिले भामा ने लिया, फिर रोहिणी, फिर दूसरी तरुणियों ने, जब ‘मुनि’ उधर बढ़ने लगी, तो भामा ने रोका—“तुम तो रोज चूमती रहती हो, आज तुम्हारी बारी नहीं”। किंतु, कपिल ने ‘मुनि’ को चंद्र के पास पहुँचा ही दिया, मुनि ने चंद्र के ओठों को चूमा।

फिर ‘मुनि’ का गर्मागर्म चुंबन शुरू हुआ। नृत्य से अधिक इस चुम्बन-महोत्सव ने लोगों का मनोरंजन किया।

आज का नृत्य-गान और देर तक चलता रहा, और जब हम-दोनों चारपाई पर पहुँचे, तो हमारा शरीर चूरचूर था।



